BRAHMA-SUTRA-BHASHYA

Of

SHRI SHANKARACHARYA

IN HINDI

(CHAPTER I.1)

Translated by

Sudhanshu Shekhar

Table of Contents

PREAMBLE

अध्यास भाष्य

तुम और मैं प्रत्ययगोचर विषय और विषयी का, जो अंधकार और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, तादात्म्य युक्त नहीं है, ऐसा सिद्ध होने पर, उनके धर्मों का भी तादात्म्य नितरां नहीं बन सकता, यह सिद्ध ही है ।

इसलिए मैं प्रत्ययगोचर, जो चिदात्मक विषयी है, उसमे तुम प्रत्ययगोचर, जो विषय है, उसका एवं उसके धर्मो का अध्यास तथा इसके विपरीत विषय में विषयी तथा उसके धर्मों का अध्यास मिथ्या है, ऐसा युक्त है।
तो भी धर्म और धर्मी, जो कि अत्यंत भिन्न हैं, इनका परस्पर भेद न समझकर, अन्योन्य में अन्योन्य के स्वरूप और अन्योन्य के धर्म का अध्यास करके, सत्य (अपरिवर्तनशील) और अनृत (परिवर्तनशील) का मिथुनीकरण करके, मैं यह और मेरा यह, ऐसा मिथ्याज्ञाननिमित्त यह नैसर्गिक लोकव्यवहार चलता है।

पूछते हैं कि यह अध्यास क्या है ? इसपर कहते हैं—स्मृतिरूप पूर्वदृष्ट का दूसरे में जो अवभास है, वही अध्यास है ।

कुछ लोग एक में दूसरे के धर्म के आरोप को अध्यास कहते हैं । कुछ लोग कहते हैं कि जिसमें जिसका अध्यास है, उनका भेद न समझने के कारण होने वाला भ्रम अध्यास है । कुछ लोग जिसमें जिसका अध्यास है उसमे विरुद्ध धर्मवाले के भाव की कल्पना को अध्यास कहते हैं ।

फिर भी, सभी मतों में 'अन्य में अन्य के धर्म का अवभास' इसका व्यभिचार नही है ।

इसी प्रकार, लोकव्यवहार मे भी यही अनुभव है कि शुक्ति ही रजत के समान अवभासित होती है तथा एक चंद्रमा ही दूसरे के साथ मालूम पड़ता है ।

अविषय प्रत्यगात्मा में विषय और विषय के धर्मों का अध्यास कैसे हो सकता है ? सब लोग पुरोवर्ती विषय मे ही अन्य विषय का अध्यास करते हैं । क्या ऐसा कहते हो कि 'तुम' इस प्रत्यय के अयोग्य प्रत्यगात्मा अविषय है ?

सुनो – यह प्रत्यगात्मा अविषय नही है क्योंकि यह मैं प्रत्यय का विषय होने के कारण तथा अपरोक्ष होने के कारण प्रसिद्ध है ।

और ऐसा कोई नियम भी नही है कि पुरोवर्ती विषय मे ही दूसरे विषय का अध्यास हो सकता है । अप्रत्यक्ष होने पर भी आकाश में बालक तलमलिनता का अध्यास करते ही हैं ।

इस प्रकार प्रत्यगात्मा में अनात्मा का अध्यास अविरुद्ध है ।

इस लक्षण वाले अध्यास को ही पंडित अविद्या मानते हैं, और विवेक करके वस्तुस्वरूप के निर्धारण को विद्या कहते हैं । ऐसा होने पर जिसमें जिसका अध्यास है उसके गुण अथवा दोष के साथ उसका अणु मात्र भी संबंध नही होता है ।

आत्मा और अनात्मा के अविद्या नामक परस्पर अध्यास को निमित्त मानकर सब लौकिक और वैदिक प्रमाण प्रमेय का व्यवहार प्रवृत्त हुआ है और सब विधि निषेध परक तथा मोक्ष परक शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। फिर अविद्यावत् विषय में प्रत्यक्ष और शास्त्र प्रमाण कैसे? इस पर कहते हैं – देह और इंद्रिय में मैं और मेरा इस अभिमान रहित पुरुष का प्रमातृत्व असिद्ध होने पर (प्रमाता के असिद्ध होने के कारण) प्रमाण की प्रवृत्ति भी असिद्ध होती है। बिना इंद्रियों को उपादान बनाए प्रत्यक्ष आदि व्यवहार संभव ही नहीं हैं। और बिना अधिष्ठान के इंद्रियों का व्यवहार संभव नहीं है। जिसमे आत्मभाव अध्यस्त नहीं है, उस देह से कोई व्यवहार नहीं हो सकता। अगर यह अध्यास न हो तो असंग आत्मा प्रमाता नहीं हो सकता तथा बिना प्रमाता के प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं होती। इसलिए प्रत्यक्ष और शास्त्र आदि प्रमाण का आश्रय अविद्यावान् पुरुष मे ही हैं।

और पशु आदि के व्यवहार से विवेकी पुरुष के व्यवहार मे विशेषता नहीं है। जैसे पशु आदि शब्द आदि का श्रवण आदि से संबंध होने पर शब्द आदि का ज्ञान प्रतिकूल होने पर उससे निवृत्त होते हैं तथा अनुकूल हो तो प्रवृत्त होते हैं। जैसे किसी पुरुष को हाथ मे दण्ड उठाए देख कर 'यह मुझे मारना चाहता है' ऐसा समझकर भागने लगते हैं पर यदि उसके हाथ मे हरी घास हो तो उसके सम्मुख हो जाते हैं। इसी प्रकार विवेकी पुरुष भी क्रूरदृष्टि वाले, हाथ मे खड्ग उठाए, चिल्लाते हुये बलवान पुरुषों को देखकर उनसे हट जाते हैं और उनसे विपरीत पुरुषों की ओर प्रवृत्त होते हैं। इसलिए विवेकी पुरुषों का भी प्रमाण और प्रमेय व्यवहार पशुओं के समान ही है। और पशुओं का प्रत्यक्ष आदि व्यवहार अविवेकपूर्वक है, यह तो प्रसिद्ध ही है। पशु आदि के साथ सादृश्य दिखाई देता है, इसलिए विवेकी पुरुषों का भी प्रत्यक्ष आदि व्यवहार, उस काल में, समान है ऐसा निश्चित होता है।

शास्त्रीय व्यवहार मे तो परलोक के साथ आत्मा का संबंध जाने बिना यद्यपि विवेकी पुरुष अधिकृत नही होता, फिर भी जिस आत्मतत्व का ज्ञान वेदान्त से प्राप्त होता है, जिसका क्षुधा आदि से कोई संबंध नहीं है, जिसमे ब्राह्मण क्षत्रिय आदि भेद नहीं है, ऐसे असंसरी आत्मतत्व की कर्माधिकार मे अपेक्षा नहीं है, क्योंकि उसमे आत्मतत्व का अनुपयोग है तथा अधिकार का विरोध है। इस प्रकार के आत्मज्ञान के पूर्व में प्रवर्तमान शस्त्र अविद्यावान पुरुष का ही आश्रय है। जैसे कि- 'ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिए' आदि शास्त्र आत्मा से भिन्न वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि का अध्यास कर के ही प्रवृत्त होते हैं।

'जिसमें जो नहीं है, उसमें वह है' ऐसी बुद्धि अध्यास है। वह अध्यास इस प्रकार है- पुत्र, भार्या आदि के अपूर्ण और पूर्ण होने पर मैं ही अपूर्ण और पूर्ण हूँ, ऐसा बाह्य पदार्थों के धर्मों का स्वयं मे अध्यास करता है। इसी प्रकार आत्मा मे देह के धर्मों का अध्यास करके कहता है- 'मैं मोटा हूँ' 'मैं पतला हूँ' 'मैं गोरा हूँ' 'मैं खड़ा हूँ' 'मैं जाता हूँ' 'मैं लांघता हूँ'। इसी प्रकार इंद्रियों के धर्मों का अध्यास करके कहता है कि 'मैं गूंगा हूँ' 'मैं काना हूँ' 'मैं नपुंसक हूँ' 'मैं बहरा हूँ' 'मैं अंधा हूँ'। इसी प्रकार काम, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अंत:करण के धर्मों का आत्मा में अध्यास करते हैं। एवं मैं प्रत्यय उत्पन्न करने वाले अंत:करण

का- अंत:करण की सब वृत्तियों के साक्षी प्रत्यागात्मा में तथा इसके विपरीत उस सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अंत:करण मे अध्यास करते हैं।

इस प्रकार यह अनादि, अनंत, नैसर्गिक मिथ्याप्रत्ययरूप अध्यास, जो कि कर्तृत्व और भोक्तृत्व का प्रवर्तक है, सकल लोक प्रत्यक्ष है। इस अध्यास का समूल नाश करने के लिए अर्थात् आत्मैकत्व विद्या कि प्राप्ति के लिए सभी वेदान्त प्रारम्भ किए जाते हैं। सब वेदांतों का जिस प्रकार ब्रह्मात्मैकत्व विषय है, उस प्रकार को हम इस शारीरक मीमांसा में दिखाएंगे।

DELIBERATION ON BRAHMAN
1.1.1

1.1.1

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

जिस वेदान्त मीमांसा शास्त्र कि हम व्याख्या करना चाहते हैं, उसका यह आदि सूत्र है। यहाँ अथ शब्द क्रम के अर्थ मे समझा जाना चाहिए न कि आरंभ के अर्थ में, क्योंकि ब्रह्म जिज्ञासा कोई वस्तु नहीं जिसका आरंभ किया जा सके। और 'मंगल'अर्थ का तो वाक्य के अर्थ मे समन्वय ही नहीं होता। इसलिए अन्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ अथ शब्द श्रवण द्वारा मंगल का प्रयोजक होता है।

जब यह निश्चय हो गया कि अथ शब्द क्रम के अर्थ में प्रयुक्ता हुआ है तो यह भी कहना चाहिए कि ब्रह्म जिज्ञासा का पूर्वप्रकृत क्या है अर्थात् वह क्या है जिसके होने पर ही ब्रह्म जिज्ञासा संभव है। जैसे धर्म जिज्ञासा पूर्व प्रकृत के रूप में वेदाध्ययन कि अपेक्षा रखती है, उसी प्रकार ब्रह्मजिज्ञासा भी नियम से पूर्व मे रहने वाली जिस वस्तु की अपेक्षा रखती है, उसे कहना चाहिए। यहाँ स्वाध्याय को पूर्वप्रकृत नहीं कह सकते क्योंकि वह तो ब्रह्मजिज्ञासा और धर्मजिज्ञासा दोनों मे ही समान है।

पू- कर्मकांड के ज्ञान को ब्रह्मजिज्ञासा का पूर्वप्रकृत माना जा सकता है।

सि- नहीं। जिसने वेदान्त का अध्ययन किया है, उसमे धर्मजिज्ञासा के पहले भी ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। और यहाँ उस प्रकार के किसी क्रम की अपेक्षा नहीं है जैसा हृदय आदि के अवदान (बली देते समय अंगों को आहुति मे डालने का क्रम) में, क्योंकि वहाँ क्रम का आदेश है। ऐसा इसलिए क्योंकि धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा में शेषशेषीभाव (पूर्ण और उसके भाग का भाव) या अधिकृताधिकार (एक मे सिद्धि से दूसरे मे सिद्धि) को मानने का कोई प्रमाण नहीं है।

ब्रह्मजिज्ञासा और धर्मजिज्ञासा के फल और जिज्ञास्य (विषय) में भेद है। धर्मज्ञान का फल तो अभ्युदय (भौतिक समृद्धि) है और वह अनुष्ठान की अपेक्षा रखता है। परंतु ब्रह्मविज्ञान का फल तो नि:श्रेयस (मोक्ष) है तथा उसे अन्य अनुष्ठान की अपेक्षा भी नहीं है। धर्मजिज्ञास्य जो है, वह वह ज्ञान काल मे नहीं होता, वह उत्पन्न होने वाला है तथा पुरुष के प्रयत्न पर निर्भर है। लेकिन ब्रह्मजिज्ञास्य जो है, वह तो नित्य है तथा पुरुष के प्रयत्न के अधीन नहीं है (क्योंकि वह पहले से ही उपस्थित सत्य है)।

वेदवाक्यों की प्रवृत्ति के भेद के कारण भी। जो वेदवाक्य धर्म में प्रमाण हैं, वे पुरुष को धर्म में प्रवृत्त कराते हुये ही बोध कराते हैं। वेदवाक्य तो पुरुष को बोध ही कराते हैं। बोध वेदवाक्य से ही हो जाने पर, वे पुरुष को बोध में प्रवृत्त नहीं करते। जैसे इंद्रिय और विषय के स्पर्श से ही पदार्थ ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार। इसलिए, जिसके बाद ब्रह्मजिज्ञासा का उपदेश किया जाता है, ऐसा कोई असाधारण कारण कहना चाहिए।

इस संदर्भ मे कहते हैं- नित्या-अनित्य वस्तु विवेक, इस लोक और परलोक में विषय-भोग के प्रति विराग, शम, दम आदि साधन संपत्ति तथा मुमुक्षुत्व। यदि यह हो तो धर्मजिज्ञासा के पहले या बाद में भी ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है और ब्रह्मज्ञान भी हो सकता है। इन चार साधनो के बिना दोनों ही नहीं हो सकते। इसलिए अथ शब्द पूर्वोक्त साधन संपत्ति से क्रम का उपदेश करता है।

अत: शब्द हेतुवाचक है। 'जैसे खेती से उपार्जित भोग्य पदार्थ क्षी हो जाते हैं, उसी प्रकार परलोक मे पुण्य से प्राप्त किए हुये लोकों का क्षय हो जाता है' (छान्दोग्य 8.1.6) इत्यादि श्रुति वाक्यों कल्याण के साधक अग्निहोत्र आदि के फल स्वर्ग आदि की अनित्यता दिखलाते हैं। इसी प्रकार, 'ब्रह्मविद् परम् को प्राप्त करता है' (तै 2.1) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मविज्ञान से ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति दिखलाती हैं। इसलिए उपरोक्त साधन संपत्ति की प्राप्ति के अनंतर ही ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिए।

ब्रह्म की जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है। आगे 'जन्माद्यस्य यत:' इस सूत्र में जिसका लक्षण कहा जाएगा वह ब्रह्म ही है। इस करण से यह संशय नही करना चाहिये कि ब्रह्म शब्द का ब्राह्मण जाति आदि कोई दूसरा अर्थ है।

'ब्रह्मण:' यह कर्मवाचक षष्ठी है शेषवाचक (संबंध) नहीं। क्योंकि जियासा को जिज्ञास्य की अपेक्षा रहती है और ब्रह्म के सिवा किसी अन्य जिज्ञास्य का निर्देश भी नहीं है।

पू- शेषवाचक षष्ठी लेने पर भी कोई विरोध नहीं, क्योंकि सामन्य संबंध तो विशेष संबंध (जैसे कि कर्मवाचक) को दिखलाता ही है।

सि- तो इस प्रकार भी ब्रह्म के प्रत्यक्ष कर्मत्व को छोडकर सामान्य संबंध द्वारा परोक्ष कर्मत्व की कल्पना करने का प्रयास व्यर्थ होगा।

पू- नहीं, यह प्रयास व्यर्थ नहीं है क्योंकि ब्रह्म के आश्रित सभी सभी पदार्थों के विचार कि प्रतिज्ञ करना प्रयोजन है।

सि- नहीं। क्योंकि प्रधान की प्राप्ति होने पर, उसकी अपेक्षा रखने वाले सभी पदार्थों कि स्वीकृति हो जाती है। ब्रह्म, ज्ञान से प्राप्त होने के लिए इष्टतम (कर्म) है, अत: वह प्रधान है। जिज्ञासा के कर्म उस प्रधान का ग्रहण होते ही जिनकी जिज्ञासा हुये बिना ब्रह्म कि जिज्ञासा नहीं होती, उन सबकी स्वीकृति हो जातीहै, इसलिए सूत्र मे उन्हे अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है। जैसे 'यह राजा जाता है' ऐसा कहने से ही परिवारसहित राजा के गमन का कथन हो जाता है, इसके अनुसार। इसी प्रकार श्रुति के साथ सूत्र का संबंध करने से भी कर्मवाचक षष्ठी है।

'यतो व इमानि भूतानि जायन्ते' (तै 3.1) इत्यादि श्रुतियाँ 'तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म' (उसकी जिज्ञासा कर, वह ब्रह्म है) इस प्रकार ब्रह्म ही जिज्ञासा का कर्म है, ऐसा प्रत्यक्ष दिखलाती हैं और कर्मवाचक षष्ठी मानने से ही सूत्र के साथ श्रुति कि एकवाक्यता होती है। इसलिए 'ब्रह्मण:' यह कर्मवाचक षष्ठी है।

जानने की इच्छा जिज्ञासा है। अनुभव तक का ज्ञान सन् वाच्य इच्छा का कर्म है, क्योंकि इच्छा का विषय फल है। ब्रह्म का अनुभव ज्ञान प्रमाण से इष्ट है। ब्रह्म का अनुभव ही पुरुषार्थ है। क्योंकि उससे नि:शेष संसार कि बीजरूप अविद्या आदि अनर्थों का नाश होता है। इसलिए ब्रह्म कि जिज्ञासा करनी चाहिए।

पू- वह ब्रह्म प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध है? यदि प्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा करने कि आवश्यकता नहीं है, यदि अप्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा ही नहीं हो सकती।

सि- नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त स्वभाव, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसंपन्न ब्रह्म प्रसिद्ध है। ब्रह्म षंड कि व्युत्पत्ति से 'बृह्' धातु के अर्थ के अनुसार नित्यशुद्ध अर्थ आदि की प्रतीति होती है और सब की आत्मा होने से ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है। सबको आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है, 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता। यदि आत्मा का अस्तित्व प्रसिद्ध नहीं होता, तो सब लोगो को 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान होता। आत्मा ही ब्रह्म है।

पू- यदि ब्रह्म आत्मा होने से प्रसिद्ध है, तो वह ज्ञात ही है। इसलिये उसकी जिज्ञासा नहीं बनती है।

सि- नहीं। क्योंकि उसके विशेष ज्ञान मे मतभेद है। सामान्य जन तथा लोकायतिक मानते हैं कि चैतन्य शरीर ही आत्मा है। अन्य कहते हैं कि चेतन इंद्रियाँ आत्मा हैं। अन्य कहते हैं कि मन ही आत्मा है। कोई कहते हैं कि क्षणिक विज्ञान मात्र आत्मा है। अन्य के अनुसार आत्मा शून्य है। अन्यानुसार, शरीरादि से भिन्न आत्मा संसारी, कर्ता तथा भोक्ता है। अन्यानुसार आत्मा केवल भोक्ता ही है, कर्ता नहीं। किसी के अनुसार, जीव से भिन्न ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसंपन्न है। आत्मा भोक्ता है, ऐसा अन्य मानते हैं। इस प्रकार, युक्ति, वाक्य और उनके आभास के आधार पर बहुत से मतभेद हैं। उनका विचार किए बिना चाहे जिस मत को ग्रहण करने वाले मोक्ष से हट जाएंगे तथा उन्हे अनर्थ भी प्राप्त होगा। इसलिए ब्रह्म जिज्ञासा के कथन द्वारा, जिसमे उपनिषद से अविरुद्ध तर्क साधन हैं और जिसका प्रयोजन मोक्ष है, ऐसे वेदांतवाक्यों की मीमांसा आरंभ करते हैं।

ORIGIN ETC. OF THE UNIVERSE
1.1.2

1.1.2

जन्माद्यस्य यत:

ऐसा कहा गया कि ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। फिर उस ब्रह्म के लक्षण क्या हैं? भगवान सूत्रकार कहते हैं- जन्म अर्थात् उत्पत्ति है जिनके आदि में, वे जन्म आदि। यह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है। और इस समास का अर्थ है, जन्म-स्थिति-नाश। जन्म का उल्लेख पहले किया गया है क्योंकि यह सामान्य स्थिति के अनुसार है तथा श्रुति वाक्यों के अनुसार भी। जैसा कि श्रुति कहती है- 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै 3.1)। इस वाक्य में जन्म, स्थिति और लय का क्रमश: दर्शन होता है। सामान्य स्थिति भी ऐसी ही है क्योंकि जन्म से अस्तित्व मे आए हुये धर्मों की ही स्थिति और लय का होना संभव है।

अस्य (इदम् का) जो कि इदं का रूप है, उससे उस पदार्थ का निर्देश है जो प्रत्यक्ष उपस्थित है (ब्रह्मांड)। षष्ठी विभक्ति जन्म आदि धर्म से धर्मी के संबंध को बताती है।

यत: से कारण का निर्देश है। नाम रूप से व्याकृत (प्रकट हुआ), अनेक कर्ता भोक्ता से संयुक्त,क्रिया और फल का आश्रय आधार, जिसमें देश, काल और निमित्त (space, time and causation) नियमित व्यवस्थित हैं, मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता, ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, 'वह ब्रह्म है' यह समझना चाहिए।

अन्य भाव विकारों का भी इन तीनों मे ही (जन्म, स्थिति और लय) अंतर्भाव है, इसलिए इन तीनों का ही यहाँ ग्रहण किया गया है। यास्क मुनि के द्वारा 'जायते, अस्ति' (जन्म लेता है, स्थित है, बढ़ता है इत्यादि) इत्यादि छ: विकारों को ग्रहण किया जाए तो यह आशंका हो सकती है कि ये तो केवल जगत के स्थिति काल मे ही संभव हैं और इसलिए मूल कारण से जगत के जन्म, स्थिति और लय को इंगित नहीं किया गया है। कोई यह शंका न करे, इसलिए जिस ब्रह्म से इस जगत का जन्म, जिसमे इसकी स्थिति तथा जिसमें इसका लय कहा गया, वे ही, जन्म, स्थिति और लय यहाँ गृहीत होते हैं।

पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त जगत् की, उक्त विशेषण ईश्वर को छोड़ अन्य से- अचेतन प्रधान से, अचेतन परमाणुओं से, अभाव से (शून्य से), संसारी (हिरण्यगर्भ) से, उत्पत्ति आदि की संभावना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार स्वभाव से भी (अपने आप)जगत् की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि वे पुरुष जो कार्य करना चाहते हैं, उन्हे विशिष्ट देश, काल और निमित्त पर आश्रित होना पड़ता है।

ईश्वर को जगत् का कारण मानने वाले (नैयायिक), इसी अनुमान (inference) को, संसारी (जीव) से भिन्न ईश्वर की सत्ता है, इसका साधन मानते हैं।

पू- क्या इस जन्मादि सूत्र में भी उसी अनुमान को प्रस्तुत नहीं किया गया है?

सि- नहीं। वेदान्त वाक्यों रूपी फूलों को गूँथना सूत्रों का प्रयोजन है। सूत्रों से वेदान्त वाक्यों का उदाहरण देकर विचार किया जाता है। वाक्यार्थ विचार से जो तात्पर्य निश्चित होता है, उससे ब्रह्मानुभव प्राप्त होता है, अनुमान आदि प्रमाणों से नहीं।

लेकिन जगत् के जन्म आदि को बताने वाले वेदान्त वाक्यों के रहने पर, उनके अर्थ में दृढ़ता के लिए, उन वाक्यों के अनुकूल अनुमान प्रमाण हैं क्योंकि श्रुति ने खुद सहायता के लिए तर्क को अंगीकार किया है। जैसे कि- 'श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है'(बृ 2.4.5)- यह श्रुति और 'जैसे पंडित और मेधावी गांधार देश को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार आचार्यवान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है' (छा 6.14.2) यह श्रुति अपने प्रति पुरुष बुद्धि को सहायक दिखाती है। धर्मजिज्ञासा मे श्रुति आदि ही प्रमाण हैं पर ब्रह्मजिज्ञासा में यथासंभव श्रुति आदि और अनुभव आदि प्रमाण हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान सिद्धवस्तुविषयक है (ऐसी वस्तु जो पहले से ही है) और ब्रह्मज्ञान की चरम सीमा अनुभव है। धर्म में अनुभव आदि प्रमाण नहीं हैं पर उसमें श्रुति आदि ही प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त, कर्तव्य की उत्पत्ति पुरुष के अधीन है। इसलिए लौकिक कर्म करना या न करना या दूसरे प्रकार से करना करता के अधीन है। जैसे घोड़े पर जाता है या पैदल जाता है या अन्य प्रकार से जाता है या नहीं जाता है। अति रात्र मे षोडशी को ग्रहण करता है या नहीं ग्रहण करता है या सूर्योदय से पहले होम करता है या सूर्योदय के बाद होम करता है। इस प्रकार विधि, निषेध, विकल्प, उत्सर्ग (सामान्य नियम) तथा अपवाद धर्म के विषय में अर्थयुक्त हैं। परंतु सिद्धवस्तु इस प्रकार है या इस प्रकर नहीं है, है अथवा नहीं है, ऐसे विकल्पों का विषय नहीं है। विकल्प पुरुष बुद्धि की अपेक्षा करते हैं। सिद्ध वस्तु का यथार्थ ज्ञान पुरुष बुद्धि की अपेक्षा नहीं करता, वह तो सिद्ध वस्तु के अधीन है। एक स्थाणु मे स्थाणु है या पुरुष है या अन्य है, यह ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं होता। यह मिथ्या ज्ञान है। स्थाणु ही है यह तत्व ज्ञान है क्योंकि वह वस्तु के अधीन है। उसी प्रकार, सिद्ध वस्तु का प्रामाण्य वस्तु के अधीन है। अत: सिद्ध हुआ कि ब्रह्मज्ञान भी वस्तु के अधीन ही है, क्योंकि उसका विषय सिद्धवस्तु ही है।

पू- यदि ब्रह्म सिद्ध वस्तु है तो वह अन्य प्रमाणो का विषय तो है ही, इसलिए वेदान्त वाक्यों का विचार तो अनर्थक ही है।

सि- नहीं। चूंकि ब्रह्म इंद्रियों का विषय नहीं है, इसलिए अन्य प्रमाणो के द्वारा ब्रह्म का जगत् के साथ संबंध पता नहीं चलता। इंद्रिय विषयों को तो समझ लेती हैं पर ब्रह्म को नहीं। अगर ब्रह्म इंद्रियों का विषय होता तो जगत् ब्रह्म से संबद्ध है, यह ज्ञान होता। और यह जगत् जब इंद्रियों के द्वारा गृहीत होता भी है तब भी उसका संबंध ब्रह्म के साथ है अथवा किसी और के साथ, ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता। इसलिए 'जन्मादि' सूत्र अनुमान दर्शित करने के लिए नहीं बल्कि वेदांतवाकयों के प्रदर्शन के लिए है।

वे कौन से वाक्य हैं जिंका ब्रह्म के लक्षणरूप से विचार करना अभीष्ट है? 'भृगु वारुणि पिता वरुण के पास गया और कहा- भगवन्! ब्रह्म का उपदेश कीजिये' ऐसा उपक्रम करके कहते हैं – 'यतो वा- जिससे यह भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसमें जीते हैं, जिसके प्रति जाते हैं और जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको ठीक-ठीक जानने की इच्छा का, वह ब्रह्म है' (तै

3.1)। उसका निर्णय वाक्य यह है-‘आनंद से ही नि: संदेह भूत उत्पन्न होते हैं, जन्म लेकर आनंद से पालित होते हैं और आनंद मे ही लीन होते हैं’ (तै 3.6)। नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध और नित्य मुक्त सर्वज्ञ स्वरूप जो कारण है, उसके विषय मे इस प्रकार के स्वरूप लक्षणों का निर्देश करने वाले दूसरे वाक्य भी उद्‌धृत करने चाहिए।

SCRIPTURE AS SOURCE OF KNOWLEDGE OF BRAHMAN

1.1.3

1.1.3

शास्त्रयोनित्वात्

ब्रह्म में जगत् का कारणत्व दिखलाने से उसकी सर्वज्ञता सूचित हुयी, अब उसी को दृढ़ करते हुये कहते हैं- अनेक विद्यास्थानों से उपकृत, दीपक के समान सब अर्थों के प्रकाशन में समर्थ और सर्वज्ञकल्प महान् ऋग्वेद आदि शास्त्र का योनि अर्थात् कारण ब्रह्म है। ऋग्वेद आदि रूप सर्वज्ञगुणसंपन्न शास्त्र कि उत्पत्ति सर्वज्ञ को छोड़ कर अन्य से संभव ही नहीं है। यह तो लोकप्रसिद्ध है जब कोई शास्त्र किसी व्यक्ति विशेष से रचा जाता है तो वह व्यक्ति उस शास्त्र से ज्यादा ज्ञानवान् होता है क्योंकि शास्त्र तो उस व्यक्ति के कुछ भाग को ही निरूपित कर रहा है। तो फिर उस महान् सत्ययोनि के सम्पूर्ण सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व के बारे मे कहना ही क्या जब अनेक शाखा भेद से भिन्न देव, पशु, मनुष्य, वर्ण, आश्रम का हेतु, सर्वज्ञान का आकार, ऋग्वेद अनायास ही लीलपूर्वक उसके निःश्वास के समान संभूत होता है जैसा कि (बृ 2.4.10) इस श्रुति से सिद्ध है।

अथवा, पूर्वोक्त ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान मे योनि- कारण अर्थात् प्रमाण हैं, इसलिए ब्रह्म केवल वेद से ही जाना जाता है। शास्त्र प्रमाण से ही यह समझा जाता है कि ब्रह्म जगत् आदि का कारण है, यह अभिप्राय है। पूर्व सूत्रों मे 'यतो वा' का उदाहरण दिया गया था।

पू- जब पहले ऐसे शास्त्र का उदाहरण देते हुये सूत्रकार ने ब्रह्म शास्त्रयोनि है ऐसा कह दिया है, तब फिर इस सूत्र का प्रयोजन ही क्या है?

सि- इसपर कहते हैं कि पूर्वसूत्र में शास्त्र का स्पष्ट उल्लेख नहीं था और कोई यह शंका कर सकता था कि जगत् के जन्म का अनुमान रूप से निरूपण है। इस शंका को दूर करने के लिए यह 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

UPASNISHADS REVEAL BRAHMAN

1.1.4

1.1.4

तत्तु समन्वयात्

पू॰ – शास्त्र ब्रह्म के लिए प्रमाण हैं, ऐसा कैसे कहते हो? क्योंकि जै.सू. 1.2.1 के अनुसार वेद तो क्रियार्थक हैं, इसलिए अक्रियार्थक वाक्य तो अर्थहीन हुये। वेदान्त तो अक्रियार्थक है, इसलिए अर्थहीन हुये। या फिर, कर्ता, देवता आदि के बारे मे बताना वेदान्त का प्रयोजन है, इसलिए वे क्रिया विधिवाक्यों (injunctions) के अंग हैं। या फिर उपासना आदि अन्य क्रियाओं का विधान वेदान्त का प्रयोजन है। सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन करना तो वेदान्त का प्रयोजन हो ही नहीं सकता क्योंकि सिद्ध वस्तु तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो का विषय है और इसीलिए उसका प्रतिपादन न तो स्वीकार्य है न ही त्याज्य। इसी कारण से 'सोऽरोदीत्' (वह रोया) इत्यादि वाक्य अर्थहीन न हों, इसलिए 'विधिना' (अर्थवाद- corroborative statements- और विधिवाक्यों मे एकवाक्यता है क्योंकि अर्थवाद विधेय- जो विधि का उद्देश्य है- की स्तुति है), जै.सू. 1.2.7। इसलिए, 'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्य सार्थक है क्योंकि वे स्तुति अर्थक हैं। जहां तक मंत्रों का प्रश्न है, जैसे कि 'इषेत्वा'(अन्न के लिए तुझे काटता हूँ), वे या तो क्रिया या फिर उसके साधन से संबद्ध हैं। कहीं भी विधिवाक्यों से संबंध के बिना वेदवाक्यों कि अर्थवत्ता न तो देखने मे आई है और न ही उपपन्न है। सिद्ध वस्तु के स्वरूप मे विधि नहीं हो सकती, क्योंकि विधि तो क्रियाविषयक है। इसलिए कर्म के लिए अपेक्षित कर्ता के स्वरूप, देवता आदि का प्रकाशन करने के कारण वेदान्त क्रियाविधि के अंग या हिस्सा हैं। यदि किसी अन्य कारण से यह न भी माना जाये फिर भी वेदान्त वाक्यों मे उपासना कर्मपरक है। इसलिए, ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक नहीं है।
इसके उत्तर मे यह सूत्र कहा गया।

सि॰ – 'तु' पूर्वपक्ष के मत के खंडन के लिए है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमत् और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण, वह ब्रह्म वेदान्त शास्त्र से ही जाना जाता है। किस प्रकार? समन्वय के द्वारा। क्योंकि सभी वेदांतवाक्यों का समन्वय तभी हो पाता है जब उन्हें ब्रह्म को अपने तात्पर्य के रूप मे माना जाय। जैसा कि 'सदेव॰', 'एकम्॰', 'आत्मा॰', 'तदेतद्॰', 'अयमात्मा॰' इत्यादि द्वारा स्पष्ट है। इसके अलावा, जब उपनिषद के अर्थों का समन्वय उनके ब्रह्मस्वरूप के विषय मे होने से हो जाता है, फिर किसी अन्य अर्थ की अपेक्षा करना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा करने से श्रुति प्रतिपादित अर्थ की हानी तथा श्रुति से अप्रतिपादित अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी।

वेदांतवाक्यों का तात्पर्य कर्ता के स्वरूप का प्रतिपादन करना है, ऐसा नहीं है, क्योंकि 'तत्केन कम् पश्येत्' (बृ 2.4.13) इत्यादि क्रिया, कारक और फल का निराकरण करने वाली श्रुतियाँ हैं (उस काल में- अर्थात् विद्या काल में- कौन कर्ता किस करण से किस विषय को देखे)। ब्रह्म यद्यपि सिद्ध वस्तु है, फिर भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के बिना जाना नहीं जा सकता क्योंकि 'तत् त्वम् असि' इस शास्त्र के बिना ब्रह्मात्मभाव समझ मे नहीं आता। यह जो संशय था कि ब्रह्म हेय और उपादेय से भिन्न है, इसलिए अर्थहीन है, उसके उत्तर मे कहते हैं कि यह दोष नहीं है क्योंकि हेय उपादेय रहित ब्रह्मात्मभाव समझने से सभी क्लेशों का नाश होकर पुरुषार्थसिद्धि होती है। यदि देवता आदि का प्रतिपादन करने वाले

वाक्य, वेदांतवाक्य के अंदर उपासना के अंग हों, तो भी विरोध नहीं है। परंतु ब्रह्म उपासना विधि का अंग नहीं हो सकता। एकत्व का विज्ञान होने पर ब्रह्म हेय उपादेय शून्य होने के करण क्रिया, कारक आदि द्वैत विज्ञान का नाश होना सर्वथा युक्त है। एकत्व के विज्ञान से नष्ट हुये द्वैत विज्ञान का पुन: संभव नहीं है कि ब्रह्म उपासना विधि का अंग है ऐसा प्रतिपादन किया जाये। यद्यपि अन्य जगहों पर बिना विधिवाक्यों के वेदवाक्यों का प्रमाणत्व नहीं दीखता, फिर भी आत्मविज्ञान का फल (मोक्ष) होने के कारण उस विषय की चर्चा करने वाले शास्त्र के प्रामाण्य को अनदेखा नही किया जा सकता। शास्त्र का प्रामाण्य अनुमानगम्य नहीं है की वह अन्य दृष्टांतों की अपेक्षा करे। इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है (अर्थात् ब्रह्म के विषाय में शास्त्र प्रमाण हैं)।

पू॰ – अन्य कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्म के लिए शास्त्र प्रमाण हैं, फिर भी ब्रह्म विधि के विषय उपासना का अंग है,ऐसा शास्त्र प्रस्तुत करता है। जैसे कि, यूप और आहवनीय अग्नि, जो कि लौकिक जीवन में यद्यपि अज्ञात हैं, फिर भी विधिके अंग के रूप मे शास्त्रो में प्रस्तुत किए जाते हैं। ऐसा कैसे हो सकता है (कि ब्रह्म उपासना का अंग हो जाए)? ऐसा इसलिए क्योंकि जो शास्त्रतात्पर्यविद् हैं, उनके अनुसार शास्त्रों का उद्देश्य कार्यों में प्रवृत्ति या निवृत्ति है। “वेदों का तात्पर्य (कर्तव्य) कर्म का ज्ञान कराना है” “चोदना (विधि) से तात्पर्य क्रिया (कर्तव्य) मे प्रवृत्त करना है” “विधि वह है जो इनका (पुण्य कर्मों) ज्ञान दे” “चूंकि वेद (कर्तव्य) क्रिया करने (या न करने) के लिए हैं, इसलिए वे वेद वाक्य जिनका तात्पर्य यह नहीं है, वे अर्थहीन हैं”। इसलिए वेदवाक्य तभी सार्थक हैं जब वे पुरुष को या तो किसी उद्देश्य के लिए क्रिया मे प्रवृत्त करें या निवृत्त करें, अर्थवाद ऐसे वेदवाक्यों के अंग बनकर उपयोगी हैं। और चूंकि वेदान्त वाक्य की ऐसे वेद वाक्यों के साथ समानता है, इसलिए वे सिर्फ इसी प्रकार से अर्थयुक्त हैं। जब यह सिद्ध हुआ की वेदान्त वाक्य भी विधिपरक हैं, तो यह भी युक्त है कि जैसे स्वर्ग की कामना करने वालों के लिए अग्निहोत्र आदि कर्मकांड आदि का विधान है, उसी प्रकार अमृतत्व कि कामना करने वालों के लिए ब्रह्म ज्ञान का विधान है।

प्रतिकार॰ – क्या यह कहा नही गया था कि जिज्ञास्य मे अंतर है? कर्मकांड में धर्म (धार्मिक क्रियाएँ, क्या करना चाहिए और क्या नही) जिज्ञास्य है, जिसकी उत्पत्ति नही हुई है, पर यहाँ तो ब्रह्म जिज्ञास्य है जो कि सिद्ध सत्य है और हमेशा से उपस्थित है। इसलिए ब्रह्मज्ञान का फल धर्मज्ञान, जिसे अनुष्ठान आदि की अपेक्षा है, के फल (स्वर्ग आदि) से विलक्षण होना चाहिए।

पू॰ – नहीं। क्योंकि, ब्रह्म तो कार्य की विधि मे अंग के रूप में प्रस्तुत है। जैसे कि विधान हैं , “आत्मा द्रष्टव्य है” “वह आत्मा जो निष्पाप है, वह अन्वेष्टव्य है और जिज्ञासितव्य है” “आत्मा पर ही उपासना करनी चाहिए” “आत्मा के लोक की ही उपासना करे” “जो ब्रह्म को जनता है वह ब्रह्म ही हो जाता है”। इस प्रकार यह आत्मा क्या है, वह ब्रह्म क्या है, ऐसी आकांक्षा होने पर उसके स्वरूप का बोध कराने के लिए “नित्य, सर्वज्ञ, सर्वगत, नित्यतृप्त, नित्यशुद्धबुद्धस्वभाव, विज्ञान स्वरूप और आनंदस्वरूप ब्रह्म” एवम् अन्य दूसरे वाक्य हैं। उस उपासना से मोक्ष का फल होता है जो कि यूँ तो अदृष्ट है पर शास्त्रो से ज्ञात होता है। पर अगर वेदांतवाक्यों को क्रियाओं (कर्तव्य) की विधि का अंग न मानें और वे वस्तु मात्र का कथन करते हैं, ऐसा जानें तो वे अर्थहीन हो जाएंगे और स्वीकृति और अस्वीकृति का कोई स्थान नहीं रहेगा। जैसे कि, “पृथ्वी सात द्वीपों से बनी है” “राजा जाता है”।

प्रतिकार॰ – वस्तु मात्र का कथन जैसे कि “यह रस्सी है साँप नहीं” भ्रम से उत्पन्न भय को दूर कर सार्थक सिद्ध होता है। उसी प्रकार असंसारी आत्मवस्तु के कथन द्वारा संसार रूपी भ्रम को दूर कर वेदांतवाक्य सार्थक हैं।

पू॰ – यह तब हो सकता, जब कि जैसे वस्तुस्वरूप का श्रवण करने से सर्प का भय समाप्त हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मस्वरूप के श्रवण मात्र से सांसरित्व का भ्रम समाप्त हो जाता। पर ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि जिन्होने ब्रह्म का श्रवण किया है, उनमें भी पूर्ववत् सुख, दुख आदि संसार के धर्म देखने मे आते हैं। “श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए” इस श्रुति में श्रवण के बाद मनन और निदिध्यासन आते हैं, इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि उपासना कि विधि के विषय के रूप में ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है (ब्रह्म शास्त्र मे प्रस्तुत है)।

सि ॰ – नहीं। क्योंकि कर्म और विद्या के फल अलग-अलग हैं। धर्म के द्वारा उन शरीर, वाणी और मन से किए जाने वाले कर्मों का ज्ञान होता है जो श्रुति और स्मृति से सिद्ध हैं, तथा जिसके विषय मे जिज्ञासा “अथातो धर्म जिज्ञासा” (जै॰सू॰) इस सूत्र में कही गयी है। हिंसा आदि अधर्म की भी जिज्ञासा करनी चाहिए ताकि उन्हे छोड़ा जा सके क्योंकि वे वेदों में निषेध वाक्यों के द्वारा कहे गए हैं। सुख और दुख धर्म और अधर्म के फल हैं जो कि अर्थ और अनर्थ से बने हैं, जिनके बारे में वेदवाक्य प्रमाण हैं। ये सुख और दुख, विषय और इंद्रियों के संयोग से प्रत्यक्षत: ब्रह्मा से स्थावर तक शरीर, वाणी तथा मन के द्वारा अनुभव किए जाते हैं। मनुष्य से ब्रह्मा तक सुख का क्रम श्रुति करती है। उससे उसके हेतु धर्म का क्रम ज्ञात होता है। धर्म के क्रम से धर्म के अधिकारी (competent) पुरुषों का क्रम ज्ञात होता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि अधिकारिता सामर्थ्य और महत्वाकांक्षा के आधार पर मांपी जाती है। जैसे कि, यज्ञ और अनुष्ठान करने वाले विद्या रूपी समाधि के कारण उत्तर पथ से जाते हैं। और केवल इष्ट, पूर्त तथा दत्त साधन वाले धूम आदि क्रम से दक्षिण पथ से जाते हैं। वहाँ भी (चन्द्र के लोक में) सुख और उसके साधनों का क्रम “वे वहाँ जब तक उनके क्रियाओं का फल रहता है, तब तक रहते है” ऐसे शास्त्र से जाना जाता है। इसी प्रकार, मनुष्य से लेकर स्थावर तथा नारकीय जीवों तक जो छोटे सुख वर्गीकृत हैं, उन्हें भी धर्म से उत्पन्न जानना चाहिए, जिनके विषय मे वेदवाक्य प्रमाण हैं। तथा ऊँचे और नीचे प्राणियों मे दुख का क्रम देख कर यह साफ है कि उनके कारण, जो कि अधर्म है, में भी क्रम है तथा वे वेदवाक्यों के द्वारा वर्जित हैं। उसी प्रकार उनके अनुष्ठान करने वालों मे भी यह क्रम ज्ञात होता है। इस प्रकार यह वेद, स्मृति तथा न्याय में प्रसिद्ध है कि यह अनित्य संसार सुख और दुख के क्रम से बना है तथा यह क्रम उन्ही लोगो को प्राप्त होता है जो की अविद्या आदि दोषों से युक्त हैं तथा यह क्रम उन्हें शरीर ग्रहण के बाद धर्म और अधर्म के अनुरूप मिलता है। यह इस श्रुति से समर्थित है “यह निश्चित है कि सशरीर (embodied being) के लिए प्रिय और अप्रिय से मुक्ति संभव नही”, यह श्रुति पूर्ववर्णित संसार की प्रकृति का एक अनुवाद (corroborative statement) है। “अशरीरी को प्रिय और अप्रिय का स्पर्श ही नहीं है” इस श्रुति द्वारा प्रिय और अप्रिय के स्पर्श का निषेध कर वस्तुत: अशरीरत्व जो कि मोक्ष ही है, उसके धर्म से उत्पन्न होने का निषेध किया है (i.e. moksh cannot be the result of virtuous deeds). क्योंकि अगर मोक्ष को धर्म से उत्पन्न मानें तो उसमे प्रिय और अप्रिय के स्पर्श का निषेध असंगत है।

पू ॰ – अशरीरत्व धर्म का फल तो हो ही सकता है न?

सि ० – नहीं, क्योंकि ये श्रुति "आत्मा को शरीरों के बीच अशरीरी, अनित्यों के बीच अनित्य, महान् तथा सर्वव्यापक मान कर विद्वान् शोक नही करते हैं" "वह अप्राण, अमना तथा शुभ्र है" "यह पुरुष असंग है" अशरीरत्व को स्वाभाविक बताती हैं। इस कारण अनुष्ठेय कर्म के फल से अलग मोक्ष नामक अशरीरत्व नित्य है, यह सिद्ध हुआ। (नित्य दो प्रकार का होता है, परिणामी नित्य और पारमार्थिक नित्य) परिणामी नित्य वह है जिसके विकृत होने पर भी "वही यह है" ऐसी बुद्धि का नाश नही होता, जैसे कि जगत नित्य है ऐसा कहने वालों के मत मे पृथ्वी आदि और जैसे कि संख्यों के मत में गुण आदि। परंतु यह (मोक्ष) पारमार्थिक नित्य है जो कि कूटस्थ, व्योमवत् सर्वव्यापी, सभी क्रियाओं से रहित, नित्य तृप्त, निरवयव, स्वयं ज्योति स्वभाव है। यही वह मोक्ष नामक अशरीरत्व है जहां धर्म अधर्म अपने कार्यों के साथ (सुख दुख) नहीं हैं तथा कालत्रय भी नहीं है, जैसा कि श्रुति मे है "उसके बारे मे कहो जो धर्म – अधर्म से , कार्य-कारण से, भूत-भविष्य-वर्तमान से पृथक् है"। (चूँकि मोक्ष धर्म-अधर्म से पृथक् होने के कारण, क्रिया के फल से पृथक् है) इसलिए मोक्ष ही ब्रह्म है जिसके बारे में जिज्ञासा प्रस्तुत थी। यदि मोक्ष कर्तव्य कर्म के पूरक (supplementary) के रूप में उपदिष्ट होता या फिर साध्य होता (something to be achieved), तो फिर अनित्य हो जाता। ऐसा होने पर, मोक्ष अन्य बहुत सारे क्रम से सज्ज अनित्य कर्मफलों के बीच स्थित एक प्रकार का बहुत अच्छा फल हो जाता। लेकिन जो मोक्ष मे विश्वास करते हैं वे तो इसे नित्य मानते हैं। इसलिए कार्य के अंग के रूप में ब्रह्म का उपदेश करना अयुक्त है।

और, "ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है" "पर (हिरण्यगर्भ) भी जिससे अवर है, उस ब्रह्म को देखने पर सभी कर्मों का नाश हो जाता है" "वह जो ब्रह्म के आनंद (जो कि ब्रह्म का स्वरूप है) को जनता है, किसी से भय नहीं करता" "जनक, तुमने अभय (ब्रह्म) प्राप्त किया है" "इसने अपने को ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जाना, और यह सर्व हो गया" "एकत्व दर्शी को मोह और शोक कहाँ" ये श्रुतियाँ ब्रहविद्या के बाद मोक्ष दिखाती हैं तथा बीच मे किसी भी अन्य क्रिया की अनुपस्थिति बताती हैं। इसी प्रकार ब्रह्मदर्शन और सर्वात्मभाव के मध्य कर्तव्य की अनुपस्थिति उदाहृत है, "इसे (आत्मा को) होकर गाता है' इसमें खड़े होने और गाने की क्रियाओं के बीच मे उस कर्ता ने अन्य कोई क्रिया नहीं की, ऐसा पता चलता है। "आप हमारे पिता हैं और आप हमें अविद्या रूप सागर के पार पहुँचाते हैं" "मैंने भग्वत्तुल्य पुरुषों से केवल सुना है (अनुभव नही) कि आत्मा को जानने वाला शोक से पार हो जाता है। भगवन मैं शोक कर्ता हूँ, मुझे शोक से पार कर दीजिये" "भगवान सनत्कुमार ने दग्धपाप (नारद) को तमस (अविद्या) के पार (ब्रह्म) दिखाया" इन श्रुतियों के द्वारा यह दर्शित है कि आत्मज्ञान का फल और कुछ नहीं, बस मोक्ष के प्रतिबंध की निवृत्ति है। इसी प्रकार न्याय से समर्थित आचार्य गौतम का सूत्र है "दुख, जन्म, प्रवृत्ति-धर्म और अधर्म, दोष (मोह आदि) एवम् मिथ्या अज्ञान, इनमें बाद वाले कारण का नाश होने पर पहलेवाले कार्य का नाश होता है"। ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य के विज्ञान से मिथ्या अज्ञान का नाश होता है।

पर यह ब्रह्म आत्मैक्य विज्ञान संपद् (एक प्रकार की उपासना) नही है। "मन अनंत है, विश्वेदेव अनंत हैं, (इसलिए मन मे विश्वेदेव कि दृष्टि करने के कारण) इसके द्वारा वह अनंतलोक जीतता है" इस श्रुति के अनुसार मन में विश्वेदेव दृष्टि संपद है। यह एकत्व विज्ञान अध्यास रूप भी नही है, जैसे कि, "मन ब्रह्म है, ऐसी उपासना करो" "आदित्य ब्रह्म है- ऐसा आदेश है" इनके द्वारा मन एवम् आदित्य में ब्रह्म दृष्टि अध्यास है। यह विज्ञान किसी विशेष क्रिया पर आधृत उपासना भी नही है, जैसे कि "वायु निश्चय ही विलय का स्थान है" "प्राण निश्चय ही विलय का स्थान है"। न ही यह (आत्मैकत्व विज्ञान) यज्ञ में प्रयुक्त किसी अंग की किसी प्रकार की शुद्धि है, जैसे कि अर्घ्य को देखना (by the wife of sacrificer for the

purification of oblation). यदि ब्रह्म आत्मैक्य विज्ञान को एक प्रकार का संपद् माना जाय तो 'तत् त्वम् असि''अहम् ब्रह्म अस्मि' 'अयम् आत्मा ब्रह्म'इत्यादि वाक्य जिनका तात्पर्य बह्म और आत्मा के एकत्व को बताना है, इन श्रुतियों के शब्दो का अर्थ बाधित होगा। तथा 'भिद्यते हृदय ग्रंथि:' आदि वाक्य जो (ब्रह्म आत्मैक्य विज्ञान के)अविद्या निवृत्ति रूपी फल का बोध कराते हैं, उनका विरोध हो जाएगा। "जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म हो जाता है" ऐसे वाक्य जो आत्मा के ब्रह्मभाव को बताते हैं, संपद् आदि की दृष्टि से अयुक्त हो जाएंगे। इसलिए, ब्रह्म आत्मैक्य विज्ञान संपद् रूप नहीं है। इसी कारण ब्रह्मविद्या पुरुष के कार्य पर आश्रित नही है।

तब किस पर आश्रित है?

प्रत्यक्ष आदि प्रमाण में वस्तुज्ञान के समान, वस्तु पर ही आश्रित है (प्रत्यक्ष में, हम एक घर को घर ही देखते हैं कुछ और नही क्योंकि ज्ञान वस्तु, घर, पर आश्रित है। ब्रह्म या ब्रह्मज्ञान की किसी प्रकार कार्य के साथ संबंध की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

ब्रह्म जानना, इस क्रिया, का कर्म है, इसलिए ब्रह्म का कार्य के साथ संबंध हो सकता है। नहीं, क्योंकि श्रुति है, "वह जाने हुये से अलग है, वह न जाने हुये से भी अलग है" "जिसके द्वारा यह सब जाना जाता है, उसे किस प्रकार जाने"। इनके द्वारा ब्रह्म जानना इस क्रिया का कर्म है, इसका निषेध किया गया है। इसी प्रकार ब्रह्म के उपासना क्रिया का कर्म होने का भी निषेध है। जैसे कि "वह जो वाक् से नहीं कहा जाता, वह जिससे वाक् प्रेरित होती है" इस श्रुति से ब्रह्म को इंद्रियों का अविषय बताया गया और फिर "उसी को तू ब्रह्म जान, उसे नही जिसकी लोग उपासना करते हैं"।

पू ॰ – यदि ब्रह्म (ज्ञान का) विषय नहीं है तो ब्रह्म शास्त्र द्वारा प्रस्तुत (शास्त्रयोनित्वात्) है, यह कहना अयुक्त हुआ न।

सि ॰ – नहीं। क्योंकि शास्त्र का उद्देश्य अविद्या से कल्पित भेद को हटाना है। शास्त्र ब्रह्म को 'इदम्' रूप से ज्ञान के विषय के रूप में बताना नहीं चाहता, वरन् ब्रह्म प्रत्यगात्मा होने के कारण अविषय है ऐसा बताते हुये अविद्या के द्वारा कल्पित वेद्य-वेदितृ-वेदना (knowable-knower-knowledge) भेद को दूर करता है। और श्रुति भी है "जो ऐसा समझता है कि 'ब्रह्म ज्ञात नहीं है' उसने ब्रह्म को ठीक से जाना है और जो ऐसा समझता है कि 'मैंने ब्रह्म को जान लिया है' उसने ब्रह्म को जाना ही नहीं" "दृष्टि के साक्षी को तू देख नहीं सकेगा और ज्ञान को जो जानने वाला है उसे तू जान नहीं सकेगा" इत्यादि। मोक्ष के तो अनित्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि इसी से अविद्या के द्वारा कल्पित संसारित्व (जन्म मृत्यु का बंधन) दूर होकर आत्मा का नित्य मुक्त स्वरूप ज्ञात होता है।

जिनके मत में मोक्ष उत्पाद्य (किसी क्रिया का फल) है, उनके लिए मोक्ष का मानसिक, वाचिक, शारीरिक कर्मों की अपेक्षा रखना तर्कपूर्ण है। अगर मोक्ष किसी का विकार माना जाए, उनके लिए भी यही मत तर्कपूर्ण रहेगा। इन दोनों मतों में (उत्पाद्य, विकार्य) मोक्ष निश्चित रूप से अनित्य रहेगा। क्योंकि दही आदि विकार या घट आदि उत्पाद तो अनित्य ही होते हैं। और जिस मत में ब्रह्म प्राप्य वस्तु है, उस मत में भी मोक्ष को कार्य की अपेक्षा नहीं है क्योंकि मोक्ष आत्मस्वरूप होने के

कारण प्राप्य ही नहीं है। अगर ब्रह्म को आत्मा से अलग मानें तो भी ब्रह्म प्राप्य नहीं है क्योंकि ब्रह्म आकाश की तरह सर्वव्यापी होने से ब्रह्म सबको नित्य प्राप्त है। मोक्ष संस्कार्य (जिसकी शुद्धि की जा सके) भी नहीं है कि वह क्रिया की अपेक्षा करे। संस्कार्य पदार्थ मे गुण मिलाने से या दोष दूर करने से संस्कार होता है। मोक्ष मे गुण मिलाने से संस्कार संभव नहीं है क्योंकि मोक्ष तो उस ब्रह्म का स्वरूप है जिससे श्रेष्ठ कुछ नहीं। दोष दूर कर मोक्ष का संस्कार करना भी संभव नाही क्योंकि मोक्ष तो ब्रह्म का ही स्वरूप है, जो कि नित्य शुद्ध है।

पू ॰ – यद्यपि मोक्ष आत्मा का धर्म है, फिर भी यह ढका हुआ है और यह तब प्रगट होता है जब आत्मा को क्रिया के द्वारा संस्कृत किया जाये, जैसे कि दर्पण की चमक उसे रगड़ कर साफ करने के बाद होती है।

सि ॰ – नहीं। आत्मा को क्रिया का आश्रय मानना ठीक नहीं। क्रिया अपने आश्रय को विकृत किए बिना रह ही नहीं सकती। (अगर आत्मा को क्रिया का आश्रय माने तो) आत्मा क्रिया से विकार को प्राप्त होगी और अनित्य हो जाएगी जो कि "यह आत्मा अविकारी है" इन वाक्यों के विरोध मे होगा। श्रुति से विरोध अनिष्ट है। इसलिए आत्मा का आश्रय लेकर क्रिया का होना संभव नहीं। और दूसरे का आश्रय लेकर होने वाली क्रिया आत्मा को उससे असम्बद्ध होने के कारण संस्कृत कर ही नहीं सकती।

पू ॰ – पर यह तो सामान्य अनुभव की बात है कि देह पर आश्रित स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत आदि क्रियाओं से देही (आत्मा) की शुद्धि होती है।

सि ॰ – नहीं। संस्कार तो देह आदि से युक्त अविद्या के द्वारा समझी हुई आत्मा मे होता है क्योंकि स्नान, आचमन आदि क्रियाओं का देह के साथ संबंध प्रत्यक्ष है। यह युक्त है कि संस्कार देह पर आश्रित किसी वस्तु का होता है जो कि अविद्या से आत्मा समझी जा रही है। चिकित्सा के द्वारा धातुओं (पित्त, वात्त, कफ) की साम्यता होने पर वह वस्तु जिसमें 'मैं निरोग हूँ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है , जो देह के साथ सम्बद्ध है, जो अपने आप को देह से एक मानती है, वही वस्तु आरोग्य का फल पाती है। उसी प्रकार स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत के द्वारा जिस वस्तु में 'मैं शुद्ध संस्कृत हुआ'यह बुद्धि आती है, वही वस्तु संस्कृत होती है। वह वस्तु तो देह से निश्चय ही सम्बद्ध है। मैं-इस ज्ञान के विषय प्रत्ययी अहंकर्ता से सारी क्रियाएँ होती हैं और वह ही उनके फल भी भोगता है। जैसा कि मंत्र भी है "उनमें से एक स्वादिष्ट फल खाता है जबकि दूसरा बिना खाते हुये देखता है"। "मनीषी इंद्रिय और मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं"। और "सभी भूतों में एक ही देव सर्वव्यापी, गूढ़, सबका अंतरात्मा, कर्म का अध्यक्ष (साक्षी), सभी मे वास करने वाला, साक्षी, केवल जानने वाला, निर्गुण दोषरहित है। "वह सर्वव्यापक, दीप्तिमान, कार्यरहित, व्रणरहित और पाप से अस्पृष्ट है। ये दोनों मंत्र दर्शाते हैं कि ब्रह्म मे किसी अतिशय (extreme, either positive or negative) का प्रवेश नहीं है (अर्थात्, कुछ भी ब्रह्म से श्रेष्ठ या तुच्छ नहीं है) और वह नित्य शुद्ध है। मोक्ष तो ब्रह्म रूप है इसलिए संस्कार्य नहीं है। और इन चार के अलावा (उत्पाद्य, प्राप्य, विकार्य, संस्कार्य) अन्य किसी भी प्रकार से मोक्ष का क्रिया के साथ संबंध दिखाना संभव ही नहीं है। इसलिए, मोक्ष में ज्ञान के सिवा क्रिया से लेश मात्र भी संबंध नही बनता।

पू ° –पर ज्ञान भी तो एक तरह की मानसिक क्रिया ही है।

सि ° – नहीं। क्योंकि ज्ञान क्रिया से भिन्न है। क्रिया वह है जो पुरुष के संकल्प के अधीन है तथा जिसका विधान (injunction) वस्तु के स्वरूप से निरपेक्ष हो। जैसे कि "पुजारी को उस देवता का ध्यान करना चाहिए जिसके लिए हवि ग्रहण की गयी" "संध्या का मन से ध्यान करे" इनमे और अन्य स्थानो में क्रिया का विधान है। ध्यान अर्थात् चिंतन यद्यपि मानसिक है, फिर भी पुरुष अपने अधीन होने से करने, न करने, अन्यथा करने के लिए स्वतंत्र है। पर ज्ञान तो प्रमाणजन्य (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि) है। और प्रमाण तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करता है। अतः ज्ञान वस्तु के अधीन होने के कारण करने, ना करने, अन्यथा करने के योग्य नहीं। ज्ञान विधि के अधीन नहीं, पुरुष के अधीन भी नहीं। अतः ज्ञान के मानसिक होने पर भी ध्यान से उसका बड़ा भेद है। जैसे कि, "हे गौतम! पुरुष अग्नि है" "हे गौतम! स्त्री अग्नि है" इनमें पुरुष और स्त्री में अग्नि की बुद्धि मानसिक है। वह विधि से जन्य होने के कारण क्रिया है और पुरुष के अधीन है। पर प्रसिद्ध अग्नि में जो अग्निबुद्धि होती है, वह न विधि के अधीन है न ही पुरुष के, वह तो प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली अग्नि के अधीन है। अत: वह ज्ञान ही है, क्रिया नहीं। इसी प्रकार अन्य प्रमाण, जैसे कि अनुमान आदि, के बारे मे समझना चाहिए। अत: ज्ञान विधेय (विधि से सम्बद्ध) नही है, ऐसा सिद्ध है, तो फिर ब्रह्मात्मविषयक ज्ञान भी विधि के अधीन नहीं है। यद्यपि ज्ञान के साथ आज्ञा सूचक क्रिया (वेदान्त में) दीखती है, पर वे पत्थर पर गिरे अस्त्र कि धार के समान कुंठित है क्योंकि उनका उद्देश्य वह है जो मानव कि पहुँच के बाहर है क्योंकि उस ज्ञान का उद्देश्य (ब्रह्म) ना तो हेय (स्वीकार्य) है न ही उपादेय (अस्वीकार्य)।

पू ° – फिर "आत्मा का दर्शन करना चाहिए, श्रवण करना चाहिये" इत्यादि विधि के समान वाक्यों का क्या अर्थ है?

सि ° – विषय में मनुष्य की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, उससे उसे विमुख करना ही इनका उद्देश्य है। जो पुरुष बाह्य विषयों में 'इष्ट वस्तु मुझे प्राप्त हो, अनिष्ट न प्राप्त हो' इस प्रकार बहिर्मुख हो प्रवृत्त होता है, वह उन विषयों से परम पुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्त नहीं कर सकता। उस परम पुरुषार्थ की इच्छा वाले को "आत्मा का दर्शन करना चाहिए" इत्यादि वाक्य शरीर और इंद्रिय समूह की स्वाभाविक प्रवृत्ति के विषय शब्द आदि से हटा कर उसकी चित्त वृत्ति के प्रवाह को प्रत्यगात्मा की तरफ प्रवृत्त करते हैं। आत्मस्वरूप के अन्वेषण मे प्रवृत्त हुये उस पुरुष को "यह सब कुछ आत्मा ही है" "परंतु जब उसके लिए सब आत्मरूप हो गया तब वह किससे किसको देखे और किससे किसको जाने" "जो जाननेवाला है, उसे किससे जाना जाय" "यह आत्मा ब्रह्म है" इत्यादि श्रुतियाँ अहेय और अनुपादेय आत्मतत्व का उपदेश करती हैं। आत्मज्ञान होने पर कर्तव्य कर्म कुछ शेष नही रह जाता, इसलिए आत्मज्ञान से कुछ ग्रहण या त्याग नहीं होता, ऐसा जो संशय है, वह ठीक है, हम उसका अंगीकार करते हैं। ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का ज्ञान होने पर कर्तव्य कर्म का नाश हो जाता है और कृतकृत्यता होती है, यह हमारे लिए (वेदांतियों) भूषण है। इस बारे में "'यह आत्मा मैं हूँ' ऐसा जो पुरुष जान लेता है, वह किस इच्छा से तथा किसके लिए शरीर से संतप्त हो" यह श्रुति तथा "हे अर्जुन, इसे जानकर बुद्धिमान बनो तथा कृतकृत्य हो जाओ" यह स्मृति है। इस कारण उपासना की विधि के विषय के रूप से ब्रह्म का बोध नहीं है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं (प्रभाकर) कि प्रवृत्ति विधि (injunction), निवृत्ति विधि (prohibition) और उनके अंग (subsidiary) को छोडकर केवल वस्तु का प्रतिपादन करने वाला कोई वेदभाग नहीं है। यह सही नही, क्योंकि उपनिषद

से ज्ञेय पुरुष किसी अन्य का शेष (subsidiary) नहीं हो सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म नहीं है या फिर न ही इसे अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि केवल उपनिषदों से ही ज्ञात जो असंसारी पुरुष ब्रह्म उत्पाद्य आदि चार विकारों से अलग है और अपने ही संदर्भ मे स्थित है और इसलिए किसी अन्य का अंग नहीं; क्योंकि "नेति, नेति इस प्रकार जो आत्मा उपदिष्ट है, वह यह है" इस श्रुति मे आत्मशब्द है, अतः आत्मा का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि निषेधकर्ता का भी आत्मा वही है।

पू ॰ – आत्मा "मैं" प्रत्यय का विषय है, इसलिए यह आत्मा सिर्फ उपनिषद् से ही जानी जाती है, यह कथन तो अयुक्त हुआ न?

सि ॰ – नहीं। क्योंकि बताया गया कि आत्मा उसका भी साक्षी है। "मैं" इस प्रत्यय का विषय जो कर्ता है, उससे भिन्न उसका साक्षी, सभी भूतों मे स्थित, सम, एक, कूटस्थ, नित्य, विधिकांड (कर्मकांड) और तर्कशास्त्र मे किसी से जाना नहीं गया है। इसलिए इस आत्मा का निषेध नहीं किया जा सकता और न ही उसे विधि वाक्यों का अंग बताया जा सकता है। चूँकि वह सबका आत्मा है, इसलिए न हेय है न उपादेय है। पुरुष को छोडकर अन्य सभी विकारी पदार्थ विनाशी हैं। पुरुष तो विनाश के कारण के न होने से अविनाशी है, क्रिया के कारण के न होने से कूटस्थ नित्य है, इसलिए नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव है। इसलिए "पुरुष से परे कुछ भी नहीं, वह सबकी काष्ठा और परम गति है"। "उस उपनिषद् गम्य पुरुष को पूछता हूँ" इस श्रुति में पुरुष का विशेषण "औपनिषदम्", उपनिषदों से ही पुरुष का प्रधानतया ज्ञान होता है, ऐसा मानने से उत्पन्न होता है। इसलिए वेदभाग सिद्ध वस्तु को नहीं बताता, यह कथन साहसमात्र है।

जहां तक शास्त्रतात्पर्यविदों का कथन है "कर्म का बोध करने में उनका उपयोग है" इत्यादि, चूँकि ये धर्म जिज्ञासा का विषय हैं इसलिए उन्हें विधि और निषेध शास्त्र के संबंध में समझना चाहिए। और "वेद क्रियार्थक हैं, अतः अक्रियार्थक वाक्य अर्थहीन हैं" इस वाक्य को ध्रुव सत्य मानने वालों के लिए सिद्ध वस्तुओं के बारे में दिये गए सारे उपदेश अर्थहीन होंगे। यदि प्रवृत्ति विधि और निवृत्ति विधि से अलग सिद्ध वस्तु ,धर्म के लिये उपयोगी होने के कारण, शास्त्र उपदेश करता है, तो कूटस्थ नित्य सिद्ध वस्तु का उपदेश क्यों नहीं करेगा? केवल उपदिष्ट होने से ही तो सिद्ध वस्तु क्रिया नहीं हो जाती॰

पू ॰ – यद्यपि सिद्ध वस्तु क्रिया नहीं है, पर वस्तु के बारे में उपदेश क्रिया के लिए ही तो है। इस प्रकार यह क्रिया का साधन बन जाता है।

सि ॰ – नहीं, क्योंकि जब वस्तु क्रिया के लिए प्रस्तुत की जाती है तबभी उपदिष्ट वस्तु के पास क्रिया की सहायता की शक्ति होती है। वह क्रिया का अंग बन जा सकती है। पर यह नहीं कहा जा सकता है कि सिद्ध वस्तु अनुपदिष्ट है।

पू ॰ – सिद्ध वस्तु का उपदेश होता भी हो, तो तुमको क्या लाभ होगा?

सि ॰ – (दधि आदि पदार्थों की तरह) अज्ञात आत्मवस्तु का उपदेश होना ठीक ही है। उसके ज्ञान से संसार के कारणभूत मिथ्या अज्ञान का नाश होता है। इस कारण इसकी उपयोगिता क्रिया के सहायक वस्तुओं के उपदेश की उपयोगिता के समतुल्य ही है। "ब्राह्मण का हनन नहीं करना चाहिए" इत्यादि निवृत्ति का उपदेश है, जो न तो क्रिया है न ही हरिया का साधन है। यदि अक्रियार्थक वाक्य अर्थहीन होते, तो उपरोक्त वाक्य अर्थहीन हो जाएगा। वह तो अनीष्ट होगा। 'न' का धातु 'हन्' के संयोग से प्राप्त अर्थ एक क्रियाहीनता (औदासीन्य) है जो मारने की क्रिया, जो कि रागत: उत्पन्न हो, से निवृत्त करता हो। इस अर्थ से भिन्न किसी और अर्थ की यहाँ कल्पना नहीं की जा सकती। 'न' का तो स्वभाव ही सम्बद्ध वस्तु के अभाव का बोध कराना है। इस अभाव का बोध क्रियाहीनता का कारण है। और यह अभावबुद्धि राग का नाश (destroying the natural proclivity to kill) कर स्वयं नष्ट हो जाती है, जैसे कि लकड़ी को जलाकर अग्नि स्वयं बुझ जाती है। इसलिए, हम ऐसा समझते हैं कि "प्रजापति की प्रतिज्ञा" इत्यादि को छोडकर अन्य निषेध वाक्यों का अर्थ क्रियाहीनता है जो क्रिया के लिए प्रेरित उद्वेग से विमुख करता है। इसलिए "अक्रियार्थक वाक्य अर्थहीन हैं" यहाँ अर्थहीनता अर्थवाद (corroborative statements), जैसे कि पौराणिक कथाओं से, जो कि किसी पुरुषार्थ की प्राप्ति नही कराते, के लिए है। और यद्यपि यह संशय था कि क्रिया के बारे में विधि जिन वाक्यों मे न हो वे निरर्थक होंगे जैसा कि "सात द्वीपों वाली पृथ्वी", पर उस संशय का निराकरन कर दिया गया क्योंकि "यह रस्सी है साँप नहीं" इत्यादि वाक्यों की उपयोगिता प्रमाणित है।

पू ॰ – जिसने ब्रह्म के बारे मे सुना है उसमें भी पहले के समान सांसारिकता रहती है, इसलिए रस्सी के स्वरूप के समान ब्रह्म स्वरूप का कथन सार्थक नहीं है।

सि ॰ – इसका उत्तर ऐसा है- जिसको 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुभव हुआ है, उसमें पहले के समान संसारित्व है, यह नहीं सिद्ध कर सकते, क्योंकि वेदप्रमाण से उत्पन्न ब्रह्मात्मभाव का सांसारित्व से विरोध है। शरीर आदि मे आत्मबुद्धि रखने वाले पुरुष मे दुख, भय आदि देखने में आते हैं। टीपी वेदप्रमाण से उत्पन्न 'ब्रह्म आत्मा है' इस ज्ञान का अनुभव होने पर उस आत्मबुद्धि के हटने पर मिथ्याज्ञान से उत्पन्न होने वाले दुख, भय उसमे हो सकते हैं, ऐसी कल्पना नही की जा सकती। यह धन मेरा है, ऐसा अभिमान करने वाले धनी गृहस्थ को उस धन की चोरी से दुखी होना देखा जाता है, पर यदि वही पुरुष संसार का त्याग कर धन मे अभिमान छोड़ दे, तो उसे धन की चोरी से होने वाला दुख नही होता। इसी प्रकार कुंडल पहननेवाले में 'मैंने कुंडल पहने हैं' इस अभिमान से उत   पणन होनेवाला सुख देखा जाता है, पर यदि वही पुरुष कुंडलरहित हो जाए या उसे कुंडलत्व का अभिमान न रहे तो 'कुंडल पहने हैं' इस अभिमान से होनेवाला वही सुख उसे नही होता। यही बात "अशरीर को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नही करते" इस श्रुति मे भी कही गयी है। शरीर के नष्ट होने पर ही अशरीरत्व होता है, जीते जी नही हो सकता, यह कहना ठीक नही। क्योंकि सशरीरत्व तो मिथ्या अज्ञान के कारण है। 'शरीर ही मैं हूँ' इस अभिमान रूप मिथ्या अज्ञान को छोड़ अन्य किसी कारण से आत्मा में सशरीरत्व की कल्पना नही की जा सकती। कोई कर्म इसका कारण नही है, इसलिए अशरीरत्व नित्य है, ऐसा तो हम कह ही चुके हैं।

पू ॰ – आत्मा द्वारा किए गए धर्म और अधर्म से सशरीरत्व प्राप्त होता है न?

सि ॰ – नही। चूँकि आत्मा का शरीर के साथ संबंध असिद्ध है, इसलिए धर्म या अधर्म आत्मा द्वारा किए गए हैं, यह बात असिद्ध है। आत्मा और शरीर के संबंध के कारण धर्म और अधर्म की उत्पत्ति तथा धर्म और अधर्म के कारण शरीर और आत्मा के संबंध की उत्पत्ति एक अन्योन्याश्रय (circular argument) होगा। और यह माने कि इनका परस्पर कार्य कारण भाव अनादि है तो वह भी अंध परंपरा होगी। आत्मा कभी कर्ता नहीं हो सकती क्योंकि उसका तो क्रिया के साथ कोई संबंध ही नहीं है।

पू ॰ – पर क्या राजा मे कर्मचारियों से सन्निधि मात्र से (निकटता) कर्तृत्व नहीं होता?

सि ॰ – नहीं। राजा के कर्तृत्व होना युक्त है क्योंकि राजा और कर्मचारियों मे धन देने के कारण संबंध है। पर ऐसे किसी कारण की आत्मा का शरीर के साथ कारण की कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन मिथ्या अभिमान तो संबंध का प्रत्यक्ष कारण है। इस प्रकार यह भी सिद्ध हुआ कि आत्मा किस प्रकार sacrificer है (अर्थात जब तक मिथ्या अभिमानत्व है)।

पू ॰ – इस बारे में, (प्रभाकर) कहते हैं कि आत्मा का अपने से भिन्न शरीर में अभिमान, गौण है न कि मिथ्या।

सि ॰ – नहीं। यह बात तो प्रसिद्ध है कि गौण- मुख्य ज्ञान तो उसी को होता है जिसे दो वस्तुओं के बीच का अंतर ज्ञात हो। जिस व्यक्ति को, जैसे अयाल आदि से युक्त सिंह शब्द और प्रत्यय (ज्ञान) और उससे भिन्न क्रूरता शूरता आदि सिंह के गुणों से युक्त पुरुष भी ज्ञात है, उस व्यक्ति को सिंहगुणसमपन्न व्यक्ति में होनेवाला सिंहशब्द और सिंह ज्ञान गौण होते हैं। पर जिसे वस्तुओं का भेद ज्ञात नहीं, उसे नहीं। ऐसे व्यक्ति को तो यह अज्ञान से ही होता है। मंद अंधकार में, 'यह स्थाणु है' इस ज्ञान के अभाव में, पुरुष शब्द और प्रत्यय (ज्ञान) स्थाणु में होते हैं, और जैसे शुक्ति में 'यह रजत है' यह शब्द और प्रत्यय निश्चित होते हैं, उसी प्रकार शरीर में 'मैं' ऐसा शब्द और प्रत्यय आत्मा और अनात्मा के विवेक के न होने से होता है, उसे गौण कैसे कहा जाए। ऐसा देखा जाता है आत्मा और अनात्मा के विवेक को जानने वाले पंडित जन भी, सामान्य गड़ेड़ियों कि तरह, शब्द और प्रत्यय का ऐसा प्रयोग करते हैं जो शरीर और आत्मा को एक ही कर देता है। इसलिए, आत्मा को देह से भिन्न मनाने वालों का शरीर मे होनेवाला 'मैं' प्रत्यय (ज्ञान) मिथ्या है, गौण नहीं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि सशरीरत्व मिथ्या प्रत्यय से होता है, अत: ज्ञानी को जीते जी अशरीरत्व प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञानी के संबंध में, 'जिस प्रकार ऐसी सर्प कि त्वचा वल्मीक में फेंकी हुई पड़ी रहती है, उसी प्रकार विद्वान् ने जिसमें अभिमान त्याग दिया है, वह शरीर पड़ा रहता है'। वह अशरीर है, मरण रहित है, प्राण है, ब्रह्म है, स्वयंप्रकाश है और "नेत्ररहित होता हुआ भी नेत्रसहित के समान आदि" यह श्रुति भी है। स्मृति भी स्थितप्रज्ञ का लक्षण कहती हुई यही दिखलाती हैं कि विद्वान् का प्रवृत्ति के साथ कोई संबंध नही है। इसलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जिसने अनुभव किया है, वह पहले के समान संसारी नहीं रहता। जो पूर्वा के समान संसारी है, उसे ब्रह्मात्मभाव का अनुभव नाही किया, यह समझना चाहिए।

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि श्रवण के बाद मनन और निदिध्यासन के आने से यह सिद्ध है कि ब्रह्म विधि का अंग है तथा ब्रह्मज्ञान ब्रह्मस्वरूप के अनुभव के लिए नहीं है, यह सही नहीं है। ऐसा इसलिए क्योंकि श्रवण के ही समान मनन और

निदिध्यासन भी ब्रह्म के अनुभव के लिय हैं। यदि ब्रह्म किसी और स्रोत से जानकार किसी और कर्म मे प्रयुक्त होता तो यह विधि का अंग बन सकता था। लेकिन ऐसा तो है नहीं। इसलिए ब्रह्म किसी उपासना की विधि के अंग के रूप मेंशास्त्र से ज्ञात नही है। इसलिए यह सिद्ध है कि ब्रह्म एक स्वतंत्र वस्तु की तरह शास्त्र मे ज्ञात है क्योंकि तभी वेदांतवाक्यों का समन्वय होता है। ऐसा होने से ही 'अथातो॰' करके इस ब्रहविषयक पृथक् शास्त्र का होना युक्त है। यदि उपासना की विधि का विषय होता तो 'अथातो धर्म जिज्ञासा' ऐसा शास्त्र होने के कारण पृथक् शास्त्र का आरंभ न होता। यदि होता भी तो 'अब क्रतु अर्थ और पुरुषार्थ कि जिज्ञासा' की तरह 'अब बचे हुये धर्म की जिज्ञासा की तरह' इस प्रकार आरंभ होता (न कि 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' की तरह)। ब्रह्म और आत्मा के एवेत्व के अनुभव की प्रतिज्ञा पूर्वमीमांसा मे नहीं है, इससे उसके लिए 'अथातो ब्रहमजिज्ञासा' इस प्रकार नए शास्त्र का आरंभ युक्त है।

इसलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान होने तक ही सब विधि और अन्य प्रमाण हैं। क्योंकि हेय और उपादेय से रहित अद्वैत आत्मतत्व का ज्ञान होने पर प्रमाण, जिनका न तो कोई विषय है न ही कोई प्रमाता, ही नही हो सकते। और कहते हैं-" 'सत् ब्रह्म मैं हूँ', ऐसा बोध होने पर पुत्र देह आदि का बाध होता है और गौण और मिथ्या आत्मा असत् होते हैं, तो फिर कोई भी व्यवहार कैसे हो सकता है?" "जिस आत्मा का ज्ञान करना है उसके पहले आत्मा प्रमाता बन सकता है, प्रमाता के स्वरूप का ज्ञान होने पर वही पापरहित हो जाता है" "जिस प्रकार 'मैं देह हूँ' यह प्रत्यय (ज्ञान) कल्पित होने पर भी प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाण भी आत्मज्ञान होने तक ही प्रमाण हैं"।

FIRST CAUSE WAS CONSCIOUS
1.1.5 to 1.1.11

1.1.5

ईक्षतेर्नाशब्दम्

इस प्रकार यह कहा गया कि ब्रह्मात्म अवगति ही वेदान्त वाक्यों का प्रयोजन है और अच्छी तरह समझने के उपरांत वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म, जो कि आत्मा है, है। और वेदान्त वाक्यों का पर्यवसान (culmination) भी, क्रिया से असम्बद्ध रहते हुये, ब्रह्म में ही है। ऐसा भी कहा गया कि ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा जगत् के उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। पर सांख्य और अन्य लोग कहते हैं कि एक परिनिष्ठित (pre-exisisting) वस्तु अन्य प्रमाण के द्वारा (वेदान्त से अलग) भी जानी जा सकती है। प्रधान आदि (अणु आदि) को कारण मान कर वे वेदान्त वाक्यों को इन्ही की ओर प्रयोजित बताते हैं। वे समझते हैं कि सृष्टिविषयक वेदांतवाक्य कार्य (effect) के द्वारा कारण को अनुमान (inference) के द्वारा प्रदर्शित करते हैं। वे मानते हैं कि प्रधान और पुरुष का संयोग हमेशा ही अनुमान किया जा सकता है। काणाद (वैशेषिक) इन्ही वेदान्त वाक्यों से ईश्वर के निमित्त कारण और अणु के उपादान कारण होने का अनुमान करते हैं। और कुछ तार्किक भी वाक्याभास (garbled quotations) और युक्त्याभास (sophistry) का सहारा लेकर पूर्वपक्ष में आते हैं। इसलिए पदवाक्य प्रमाण के ज्ञाता आचार्य (बादरायण)के द्वारा, वेदांतवाक्यों की ब्रह्मात्मावगति प्रयोजन प्रदर्शित करने के लिए, वाक्याभास और युक्त्याभास को पूर्वपक्ष में रख कर उनका निराकरण किया जाता है।

सांख्यों के द्वारा प्रधान, जो कि त्रिगुणात्मक, अचेतन और स्वतंत्र है, वह जगत् का कारण माना जाता है। वे कहते हैं कि – जो वेदान्त वाक्य तुम्हारे (वेदांती) अनुसार एक सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् जगत्कारण ब्रह्म के बारे में बताते हैं, वे ही वेदान्तवाक्य तो समान रूप से प्रधान के जगत्कारणत्व का प्रदर्शन करते हुये समझे जा सकते हैं। जहाँ तक सर्वशक्तिमतत्व का प्रश्न है, वह तो प्रधान का अपने विकारों के प्रति है ही, और इसी प्रकार सर्वज्ञत्व भी।

कैसे?

सांख्य: जिसे तुम ज्ञान मानते हो, वह तो सत्त्व का धर्म है 'सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्' इस स्मृति के अनुसार। उसी सत्त्व के धर्म ज्ञान के द्वारा शरीर और इंद्रियों से युक्त योगी पुरुष सर्वज्ञ के रूप में प्रसिद्ध हैं। यह भी प्रसिद्ध है कि सत्त्व की उच्चतम पूर्णता सर्वज्ञत्व है। क्योंकि केवल उपलब्धि मात्र (चेतना मात्र), शरीर और इंद्रियों से हीन, पुरुष के सर्वज्ञत्व या किंचित्ज्ञत्व की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती है। लेकिन त्रिगुणात्मक प्रधान के पास तो प्रधान अवस्था में भी (साम्य अवस्था में भी) सभी ज्ञान का कारण सत्त्व है, इसी कारण से वेदान्त वाक्यों में अचेतन होने पर भी प्रधान में गौण रूप से सर्वज्ञत्व कहा जाता है। जब तुम ब्रह्म के सर्वज्ञत्व की बात करते हो, तो तुम्हें भी यह स्वीकार करना होगा कि उसे सर्वज्ञ सर्वज्ञानशक्तिमान होने के कारण कहते हैं (i.e. Brahman has potential to know everything)। क्योंकि ऐसा तो है नहीं कि ब्रह्म हर काल में, सभी वस्तुओं को जानता हुआ वर्तता है। अगर ऐसा मानें कि ब्रह्म का ज्ञान नित्य है तो फिर ब्रह्म की ज्ञानक्रिया (act of knowing) के प्रति स्वतन्त्रता बाधित हो जाएगी। इसके विपरीत अगर ज्ञानक्रिया अनित्य हो तो ज्ञानक्रिया का उपराम (cease) होने पर ब्रह्म भी नहीं रह पाएगा (cease to exist)। इसलिए सर्वज्ञानशक्तिमान् होने

के कारण सर्वज्ञ कहते हैं – ऐसा निष्कर्ष है। पर तुम यह कहते हो कि उत्पत्ति के पूर्व (before creation) ब्रह्म सर्वकारकशून्य है (devoid of accessory)। ज्ञानसाधन शरीर और इंद्रियों के अभाव में भी किसी को ज्ञानोत्पत्ति हो, यह अयुक्त है। पर प्रधान के लिए तो विकार (परिणाम) संभव है क्योंकि वह अनेकात्मक (composite) है और मृदा आदि की तरह उपादान कारण बन सकता है; पर एकात्मक और असंहत (uniform) होने के कारण ब्रह्म में कोई विकार हो ही नहीं सकता।

सि – तुम्हारे इन कथनों के उत्तर में यह सूत्र है – ईक्षतेर्नाशब्दम् – "*प्रधान जगत्कारण नही है क्योंकि ईक्षण से यह स्पष्ट है कि प्रधान का वेदान्तवाक्यों में कहीं उल्लेख नहीं है*" –
वेदान्त के आधार पर सांख्य परिकल्पित अचेतन प्रधान जगत्कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि वेदान्त में तो यह अशब्द है अर्थात् अनुल्लिखित है।

अशब्द कैसे है?

ईक्षण के कारण।

कैसे?

वेदान्त में 'सदेव सोम्य इदम् अग्र आसीत् एकम् एव अद्वितीयम्' से आरंभ कर 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजो असृजत्' है। यहाँ इदम् शब्द का अर्थ नामरूपव्याकृत जगत् है जो कि उत्पत्ति के पूर्व सत् ही था ऐसा समझ कर उस सत् शब्द का वाच्य ही ईक्षण, जो कि सृष्टित्व और तेज:प्रभृति के पहले है, करता है, ऐसा श्रुति दिखलाती है। अन्यत्र भी 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमान् लोकान् असृजत्' श्रुति ईक्षण के उपरांत ही सृष्टित्व कहती है। अन्यत्र भी श्रुति षोडशकल पुरुष की प्रस्तुति के बाद कहती है 'उसने ईक्षण किया। उसने प्राण का सृजन किया' यहाँ 'यजति' के समान ही 'ईक्षति' का प्रयोग संज्ञा के लिए किया गया है न कि धातु के अर्थ में। इसके फलस्वरूप अग्रांकित श्रुति के द्वारा सर्वज्ञ ईश्वर को 'पर कारण' कहा जा सकता है – 'उससे, जो सामान्य रूप से सर्वज्ञ है तथा विशेष रूप से जिसका तप ज्ञानमय है, यह ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) तथा नाम, रूप तथा अन्न उत्पन्न हुये'।

तुमने यह जो कहा कि सत्त्व के धर्म ज्ञान के द्वारा प्रधान सर्वज्ञ होता है, यह अयुक्त है। क्योंकि प्रधान अवस्था में गुण साम्यता के कारण सत्त्व का धर्म ज्ञान तो संभव ही नहीं है। यदि कहो कि सर्वज्ञानशक्तिमान् होने के कारण प्रधान सर्वज्ञ है, तो यह भी अयुक्त है क्योंकि अगर गुण साम्यावस्था में सत्त्व पर आश्रित ज्ञानशक्ति के कारण प्रधान को सर्वज्ञ कहते हो तो रज और तम पर आश्रित ज्ञानप्रतिबंधकशक्ति के कारण प्रधान को किंचित्ज्ञ भी कह सकते हैं। तथा जब तक साक्षी (आत्मा) न हो तब तक सत्त्व की कोई भी वृत्ति (modification in sattva) ज्ञान नहीं कही जा सकती। और अचेतन प्रधान के पास साक्षित्व तो है नहीं। इसलिए प्रधान का सर्वज्ञत्व तो अयुक्त है। जहां तक योगियों का प्रश्न है तो वे तो चेतन हैं तथा इस कारण सत्त्व के उत्कर्ष के कारण सर्वज्ञ होते हैं, इसलिए योगियों के सर्वज्ञत्व का उदाहरण नहीं दिया जा सकता। अगर

साक्षी की उपस्थिति के कारण प्रधान में इक्षितृत्व की कल्पना करते हो, जैसे कि अग्निमय पिण्ड में दग्धृत्व,तो फिर वह जिसकी उपस्थिति के कारण प्रधान मे इक्षितृत्व की कल्पना करते हो, वह ब्रह्म सर्वज्ञ तथा जगत का कारण मुख्यत: है (गौणत: नहीं), यह मानना युक्त है। फिर यह जो कहते हो कि ब्रह्म मुख्यत: सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि अगर ज्ञानक्रिया नित्य हो तो ज्ञानक्रिया के प्रति ब्रह्म की स्वतन्त्रता असंभव होगी; इसके उत्तर में यह कहते हैं कि आपसे यह पूछा जाना चाहिए "ज्ञानक्रिया के नित्य होने से सर्वज्ञत्व की हानि किस प्रकार होती है"। क्योंकि यह तो विरोधाभास होगा कि किसी के पास सभी विषयों को अवभासित करने वाला ज्ञान नित्य रूप से है पर वह सर्वज्ञ नहीं है। अगर ज्ञान अनित्य होता, तो कोई कभी जानता और कभी नहीं जानता, और इस प्रकार असर्वज्ञ भी कहा जा सकता है। लेकिन यह दोष ज्ञान के नित्यत्व होने पर नहीं होता है।

सांख्य – ज्ञान के नित्यत्व होने पर ज्ञानविषय से स्वातंत्र्य अयुक्त हो जाएगा (Brahm cannot remain if object of knowledge is not in existence)।

सि – नहीं। क्योंकि सूर्य के संदर्भ में, जिसमें नित्य उष्णता और प्रकाश होने पर भी 'दहति' 'प्रकाशयति'आदि के द्वारा क्रिया का स्वातंत्र्य वर्णित है।

सांख्य – सूर्य के दाह्य और प्रकाश्य वस्तुओं के साथ संयोग होने पर ही 'दहति' 'प्रकाशयति' कहते हैं। पर उत्पत्ति के पूर्व ब्रह्म का ज्ञानकर्म (ऑब्जेक्ट ऑफ नॉलेज) के साथ संयोग ही नहीं है। इसलिए दृष्टांत विषम है।

सि – नहीं। कर्म (ऑब्जेक्ट) के न रहने पर भी 'सविता प्रकाशते' कह कर सूर्य मे कर्तृत्व का आरोप करते हैं। इसी प्रकार ज्ञानकर्म के न रहने पर भी 'तदैक्षत' कहकर ब्रह्म में कर्तृत्व का आरोप करें, तो भी विषम नहीं होगा। श्रुति में उद्धृत ब्रह्म का इक्षितृत्व और भी युक्त है यदि इसे (इक्षितृत्व को) कर्म की अपेक्षा माना जाए।

सांख्य – यह बताओ कि उत्पत्ति के पूर्व ईश्वर के ज्ञानविषयक कर्म कौन से हैं (objects which form the content of God's knowledge)?

सि – अव्याकृत नाम और रूप जो कि व्यक्त होने वाले हैं तथा जिनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे ब्रह्म हैं या ब्रह्म नहीं हैं, वे अव्याकृत नामरूप उत्पत्ति के पूर्व ईश्वर के ज्ञानविषयक कर्म हैं। योगशास्त्रविद् कहते हैं कि जिसके प्रसाद से योगी अतीत और भविष्य का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं, उस नित्यसिद्ध ईश्वर को सृष्टि, स्थिति और संहृति का नित्यज्ञान है, यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है।

फिर यह जो कहा गया कि उत्पत्ति के पूर्व शरीरादि न होने के कारण ब्रह्म को इक्षितृत्व नहीं हो सकता, यह अयुक्त है। सूर्य और प्रकाश के समान ब्रह्म तो नित्यज्ञान स्वरूप है और इसलिए ब्रह्म को ज्ञानसाधन (शरीरादि) की अपेक्षा हो, यह अयुक्त है। और अविद्यावान् संसारी (जीव) को तो ज्ञानोत्पत्ति के लिए शरीरादि की अपेक्षा रहती है पर ईश्वर को नहीं क्योंकि वह

ज्ञानप्रतिबंधकारणरहित है। अग्रांकित दो मंत्र भी दर्शाते हैं कि किस प्रकार ईश्वर का ज्ञान शरीरादि से अनपेक्षित तथा बिना किसी आवरण के है 'उसके पास कार्य (शरीर) और करण (इंद्रिय) नहीं हैं, कोई भी उसके समान या उससे उत्कृष्ट नहीं है तथा वेद उसकी परा शक्ति और स्वाभाविक क्रिया जो ज्ञान बल से उत्पन्न है उसका वर्णन करते हैं' (श्वे VI.8) 'वह बिना हाथ, पैर, नेत्र और श्रवण के क्रमश: ग्रहण करता है, चलता है, देखता है और सुनता है। वह सभी वेद्य को जानता है पर उसे कोई नहीं जानता है। उसे प्रथम, महान तथा पुरुष कहते हैं' (श्वे III.19)।

सांख्य – तुम्हारे मतानुसार तो ज्ञानप्रतिबंधकारणरहित ईश्वर के अलावा कोई संसारी तो है नहीं। श्रुति कहती है 'उसके सिवा कोई साक्षी नहीं, कोई ज्ञाता नहीं'। फिर ऐसा क्यों कहते हो कि संसारी को ज्ञानोत्पत्ति के लिए शरीरादि की अपेक्षा है पर ईश्वर को नहीं।

सि – यहाँ कहते हैं – सत्य ही ईश्वर के सिवा कोई संसारी नहीं है। फिर भी जैसे घट, कर (jar) और गुहा आदि उपाधि का आकाश से संबंध देखा जाता है उसी प्रकार देह आदि उपाधि के साथ ईश्वर का संबंध कल्पित किया जाता है। फिर उसके द्वारा कृत घट छिद्र, कर छिद्र आदि शब्दप्रत्यय व्यवहार भी लोकदृष्ट है। यद्यपि आकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं (both spaces are one only), आकाश मे घातकश आदि भेद तो मिथ्याबुद्धि दृष्ट हैं। उसी प्रकार देहादि उपाधि संबंध जो अविवेककृत है, उससे ईश्वर संसारी भेद मिथ्याबुद्धिदृष्ट है। आत्मा तो जैसी पहले थी वैसी ही रहती है, पर पूर्वपूर्व के मिथ्याबुद्धि के कारण (series of errors) देहादि अनात्मा में आत्मा का अभिनिवेश (identification) देखा जाता है। ऐसा संसारित्व सिद्ध होने पर, संसारी का इक्षितृत्व के लिए देहादि की अपेक्षा होना युक्त है।

यह जो कहा कि प्रधान के अनेकात्मक होने के कारण मृदा आदि की तरह उसका उपादान कारण होना युक्त है पर असंहत ब्रह्म के लिए नहीं, तो वह तो प्रधान के अशब्द होने के कारण गलत सिद्ध हो चुका है। और तर्क के द्वारा किस प्रकार ब्रह्म का कारणत्व सिद्ध है, प्रधान का नहीं, यह 'न विलक्षणत्वादस्य' सूत्र मेन व्याख्या किया जाएगा।

सांख्य – वेद में इक्षितृत्व का प्रयोग होने के कारण यह जो कहते हो कि अचेतन प्रधान जगत्कारण नहीं है, वह अगर दूसरी दृष्टि से देखें तो युक्त है। सामान्य बातचीत में अचेतन वस्तु को लाक्षणिक रूप से (figuratively) चेतन कहा जाता है। जैसे कि यह अनुभूत है कि जब नदी का किनारा गिरने वाला होता है तो यह कहा जाता है 'नदी का किनारा गिरने को है' और इस प्रकार अचेतन किनारे में चेतना उपचरित होती है। उसी प्रकार प्रधान में, अचेतन होने पर भी, उत्पत्ति की आसन्नता (imminence) से, 'इसने ईक्षण किया' ऐसा कह कर चेतना का उपचार किया जाता है। जिस प्रकार सामान्य जीवन में कोई व्यक्ति 'स्नान करके भोजन कर अपराह्न में रथ से ग्राम को जाऊँगा' ऐसा ईक्षण कर बाद मे उसी क्रम में प्रवर्तित होता है, उसी प्रकार प्रधान भी महत् आदि के रूप में क्रम से प्रवर्तित होता है, इसलिए उसमें चेतना उपचरित होती है।

सि – लेकिन इक्षितृत्व का मुख्य भाव छोड़कर औपचारिक भाव किस कारण से कल्पना कर रहे हो?

सांख्य – क्योंकि अचेतन तेज और जल में चेतना का औपचारिक प्रयोग 'तेज ने ईक्षण किया' (छा. VI.ii.3) 'जल ने ईक्षण किया' (छा. VI.ii.4) आदि श्रुति में देखा गया है। इसलिए इन्ही औपचारिक प्रयोगों के संदर्भ में उद्धृत होने के कारण यह समझा जाना चाहिए कि सत् के लिए 'ईक्षण' का प्रयोग औपचारिक रूप से हुआ है।

सि – इसलिए यह सूत्र कहा जाता है – 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' –

1.1.6

गौणश्चेन्नात्मशब्दात्

(*अगर यह कहते हो कि ईक्षण गौण अर्थ में लिया गया है, तो ऐसा नहीं है क्योंकि आत्म शब्द का प्रयोग किया गया है*)
यह जो कहते हो कि सत् शब्द का वाच्य प्रधान है और उसमें इक्षितृत्व औपचारिक रूप से तेज और जल की तरह प्रयुक्त है, तो यह कहना असत् है।

क्यों?

आत्म शब्द के कारण। 'सोम्य! यह सब पहले सत् ही था' (छा. VI.ii.1) से आरंभ कर तेज, जल और पृथ्वी की सृष्टि 'उसने ईक्षण किया' 'उसने तेज का सृजन किया' इन वाक्यों में कही गयी है। उसके बाद वही इक्षितृ (seer) सत् तथा अन्य तेज, जल तथा पृथ्वी 'देवता' शब्द के द्वारा उल्लिखित है – 'वह इस देवता ने ईक्षण किया' 'अब मैं इन तीन देवताओं में जीव रूप द्वारा, **जो मैं खुद हूँ**, प्रवेश कर नाम रूप से व्याकृत होऊँ' (छा VI.iii.2)। अगर अचेतन प्रधान की इक्षितृ के रूप मे गौण भाव से कल्पना की गयी होती तो प्रधान को ही 'स इयम् देवता' कह कर इंगित किया गया होता क्योंकि उसी का विषय चल रहा है। लेकिन अगर वैसा होता तो वह देवता (प्रधान) जीव को आत्म शब्द से नहीं कहता। जीव चेतन है, शरीराध्यक्ष है और प्राण का धारक है, ऐसा तो जीव शब्द के प्रयोग और विश्लेषण दोनों से ही सिद्ध है। तो वह जीव अचेतन प्रधान की आत्मा कैसे हो सकता है? क्योंकि 'आत्मा हि नाम स्वरूपम्', अब अचेतन प्रधान का स्वरूप चेतन जीव तो हो ही नहीं सकता। हाँ, अगर इक्षितृ से चेतन ब्रह्म मुख्य रूप से ही समझा जाय, तो उसका जीव के लिए आत्म शब्द का प्रयोग युक्त है। ऐसा ही इस श्रुति में 'वह, जो यह अत्यंत सूक्ष्म है, वही इस सबका आत्मा है। वह सत्य है। वह आत्मा है। तुम वही हो, श्वेतकेतु!' (छा VI.vii.8)। 'स आत्मा' ऐसा कहकर श्रुति सत् प्रस्तुत करती है जो अत्यंत सूक्ष्म आत्मा है और इस प्रकार सत् को आत्मा कहती है। और 'तत् त्वम् असि श्वेतकेतु' कहकर सत् को चेतन श्वेतकेतु की आत्मा के रूप में उपदेशित करती है। लेकिन तेज और जल के संदर्भ में 'ईक्षण' का प्रयोग गौण रूप से है क्योंकि वे विषय हैं तथा अचेतन हैं और नाम रूप की व्याकृति में प्रयोज्य हैं (factors used in manifestation of name and form)। और न आत्म शब्द का प्रयोग ही (तेज और जल के संदर्भ में) किया गया है कि 'ईक्षण' का अर्थ मुख्य रूप मे ले सकने की संभावना हो। इसलिए (तेज और जल के विषय में) इक्षितृत्व नदी के किनारे की तरह गौण रूप से प्रयुक्त है, यह उपपन्न है। या फिर तेज और जल के लिए भी इक्षितृत्व मुख्य रूप से कहा जा सकता है अगर यह प्रयोग सत् अधिष्ठान की अपेक्षा से देखा जाये। पर किसी भी प्रकार से, सत् के लिए इक्षितृत्व का प्रयोग गौण रूप से नहीं है क्योंकि आत्म शब्द का प्रयोग है, ऐसा युक्त है।

सांख्य – अचेतन होने पर भी प्रधान मे आत्म शब्द संभव है क्योंकि प्रधान आत्मा के लिए सबकुछ करता है। जैसे राजा का सभी काम करने वाले भृत्य में आत्म शब्द होता है 'ममात्मा भद्रसेन'। जिस प्रकार कोई भृत्य राजा की संधि या विग्रह (peace or waging war) के द्वारा सेवा करता है उसी प्रकार प्रधान भी उस पुरुष आत्मा की सेवा उसके लिए भोग और अपवर्ग जुटा कर करता है। या फिर एक आत्म शब्द से चेतन और अचेतन दोनों समझा जा सकता है जैसा कि 'भूतात्मा, इंद्रियात्मा' आदि प्रयोगो से दर्शित है। और जैसे एक ही शब्द ज्योति: का प्रयोग यज्ञ और अग्नि दोनों के अर्थों में किया जाता है। तो फिर आत्म शब्द के प्रयोग से 'ईक्षण करता है' इसका प्रयोग गौण रूप में नहीं हुआ है, यह कैसे अनुमान किया?

इसके उत्तर में कहते हैं – तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् –

1.1.7

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्

(*[प्रधान आत्मा शब्द का अर्थ नहीं हो सकता] क्योंकि जो उसमें [आत्मा में] निष्ठावान् है उसके लिए मोक्ष का उपदेश है*)

अचेतन प्रधान आत्म शब्द का आलंबन नहीं हो सकता है। अत्यंत सूक्ष्म सत् जो कि अध्ययन का विषय है, उसके बारे में 'स आत्मा' 'तत् त्वम् असि श्वेतकेतु' के द्वारा चेतन श्वेतकेतु को मोक्ष के लिए उसकी निष्ठा का उपदेश किया गया। इसके बाद मोक्ष का उपदेश किया गया 'आचार्यवान् पुरुष जानता है। उसके लिए तो बस उतनी ही देर है जब तक उसे मोक्ष नहीं मिलता। फिर वह सत् से एक हो जाता है' (छा VI.xiv.2)। अगर शास्त्र 'तत् असि' कहकर 'सत्' शब्द से अचेतन प्रधान का ग्रहण करवाता होता अर्थात् चेतन मुमुक्षु संत को 'तुम अचेतन हो' ऐसा कहता होता तो फिर विपरीतवादी होने के कारण शास्त्र पुरुष के लिए अनर्थकारी तथा अप्रमाण हो जाता। लेकिन निर्दोष शास्त्र के अप्रमाणक होने की कल्पना करना युक्त नहीं है। यदि प्रमाणभूत शास्त्र अज्ञ मुमुक्षु को अचेतन अनात्मा, आत्मा है, ऐसा उपदेश करेंगे, तो वह तो (शास्त्र के प्रति अपनी) श्रद्धा के कारण अंधगोलांगूल न्याय के द्वारा उस आत्म दृष्टि का परित्याग नहीं करेगा। और इस प्रकार वह अनात्मा के अलावा आत्मा को नहीं जान पाएगा तथा मोक्ष से हट कर वह अनर्थ को प्राप्त होगा। इसलिए जिस प्रकार स्वर्गादि की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को अग्निहोत्र आदि सत्य साधनों का उपदेश है, उसी प्रकार आत्मा के लिए मुमुक्षु पुरुषों के लिए 'स आत्मा तत् त्वम् असि श्वेतकेतु' का सत्य उपदेश है, ऐसा कहना युक्त है। इस प्रकार सत्याभिसंध पुरुष (one holding on to truth) के लिए मोक्ष का उपदेश तप्तपरशुग्रहणमोक्ष दृष्टांत के द्वारा उपपन्न है। अन्यथा अगर सत् आत्मतत्व का उपदेश अमुख्य (गौण) रूप से होता तो वह केवल संपद् मात्र होता जैसा कि 'मैं प्राण हूँ, इस प्रकार ध्यान करो' (ऐ I.i.2.6)। संपद् मात्र होने से इस उपदेश का फल अनित्य होता तथा इसका मोक्षोपदेश होना उपपन्न नहीं होता। इसलिए अत्यंत सूक्ष्म आत्म शब्द सत् गौण रूप से प्रयुक्त नहीं है। 'ममात्मा भदरसेन' में आत्मशब्द का प्रयोग गौण रूप से होना उपपन्न है क्योंकि यहाँ भृत्य और स्वामी के बीच का भेद प्रत्यक्ष है। और अगर कहीं किसी शब्द का गौण रूप से प्रयोग हुआ है, तो भी यह तो न्याय सम्मत नहीं है कि किसी अन्य जगह, **जहां केवल शब्द प्रमाण है**, वहाँ गौण अर्थ की कल्पना की जाए क्योंकि उससे सर्वत्र अनाश्वास (losing faith everywhere) का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। और यह जो कहा कि आत्मशब्द का प्रयोग चेतन और अचेतन दोनों अर्थों में किया जा सकता है जैसे कि ज्योति: का प्रयोग क्रतु और ज्वलन दोनों के लिए होते है, यह कहना गलत है क्योंकि (एक ही संदर्भ में) एक ही शब्द का अनेकार्थ न्यायपूर्ण नहीं है।

इसलिए, आत्मशब्द मुख्य रूप से चेतन विषय है और 'भूतात्मा, इंद्रियात्मा' में गौणरूप से चेतनत्व का उपचार करके (by ascribing consciousness) आत्मशब्द का प्रयोग है। अगर आत्मशब्द दो वस्तुओं मे समान रूप से हो तो आत्मशब्द से किसी एक वस्तु का इंगित होना तब तक संभव नहीं है जब तक कि कोई निर्धारक तत्व जैसे कि प्रकरण (context) या उपसर्ग आदि प्रस्तुत न हो। अब यहाँ अचेतन (प्रधान) के लिए कोई निश्चयात्मक कारण तो है नहीं। यहाँ प्रकृत (सब्जेक्ट मैटर) तो इक्षितृ सत् है और चेतन श्वेतकेतु भी संनिहित (नजदीक) है। इसलिए चेतन श्वेतकेतु की अचेतन आत्मा संभव ही नहीं है। इसलिए यह निश्चित है कि आत्मशब्द चेतनविषयक है। ज्योति: शब्द लौकिक प्रयोग में भी 'वह जो ज्वलन करता है' ऐसा समझा जाता है। पर अर्थवाद (eulogistic fancy) के द्वारा कल्पित ज्वलन सादृश्य के कारण इसका प्रयोग यज्ञ (क्रतु:) के लिए किया जाता है, इसलिए दृष्टांत विषम है। या फिर क्योंकि पूर्वसूत्र में आत्मशब्द का प्रयोग गौण (साधारण) रूप से होने की आशंका को निरस्त कर दिया गया है, इसलिए प्रधान जगत् का कारण नहीं है, इसका निराकरण करने के लिए एक स्वतंत्र कारण बताया गया है (ऐसे भी हम प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या कर सकते हैं)। इसलिए, अचेतन प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं है।
अन्य और किस कारण से प्रधान सत् शब्द वाच्य नहीं है?

इसके लिए अगला सूत्र – हेयत्वावचनाच्च –

1.1.8

हेयत्वावचनाच्च

और (प्रधान परोक्ष रूप से भी नहीं कहा गया है) क्योंकि इसके हेयत्व की बात नहीं कही गयी है।
यदि अनात्मा प्रधान ही सत् शब्द वाच्य होता तथा यही 'स आत्मा तत् त्वम् असि' में उपदिष्ट होता तो शास्त्र मुख्य आत्मा का उपदेश करने का इच्छुक होने के कारण

यदि अनात्मा प्रधान ही सत् शब्द वाच्य होता तथा यही 'स आत्मा तत् त्वम् असि' में उपदिष्ट होता तो शास्त्र मुख्य आत्मा का उपदेश करने का इच्छुक होने के कारण, प्रधान का हेयत्व (inferiority and hence rejectibility) अवश्य कहता, ताकि उसके (प्रधान के) श्रवण के उपरांत अनात्मग्य साधक उसी को आत्मा समझ प्रधान में ही निष्ठ न हो जाये। जैसे अरुंधती को दिखाने का इच्छुक पहले उसके समीप स्थित स्थूल तारक को ही अरुंधती अमुख्य रूप से कह कर ग्रहण करवाता है। फिर उसे त्याग कर अरुंधती को दिखाता है। उसी प्रकार यहाँ पर 'न अयम् आत्मा इति' कहा गया होता। पर ऐसा तो किया नही गया है। इसके जगह (छान्दोग्य उपनिषद् का) षष्ठ अध्याय सत् मात्र आत्म अवगति में निष्ठित होकर समाप्त हो जाता है। 'च' शब्द का उपयोग अतिरिक्त कारण के प्रदर्शन के लिए किया गया है कि प्रधान की कल्पना प्रतिज्ञा (assertion started with) से विरोध में है। अगर यह मान भी लिया जाए की शास्त्र में प्रधान के हेयत्व का वचन है तो भी प्रतिज्ञा (initial premise) के विरोध का प्रसंग उठता है। और वह प्रतिज्ञा यह है कि कारण के विज्ञान से सब कुछ (कार्य) का विज्ञान हो जाता है क्योंकि 'क्या तुमने उस (वस्तु का, जो जानी जाती है केवल) उपदेश (के द्वारा) को पूछा है जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत, अमत (unthought) मत तथा अविज्ञात विज्ञात हो जाता है; वह वस्तु केवल आदेश (उपदेश) से ही जानी जा सकती है; सौम्य, जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड के विज्ञान से सभी मृण्मय पदार्थों विज्ञात हो जाते हैं क्योंकि

विकार तो वाचारंभण और नाम मात्र ही हैं तथा केवल मृत्तिका ही सत्य है' से प्रारम्भ कर 'इस प्रकार सौम्य वह (सत्) आदेश से जाना जाता है' वाक्य सुना जाता है।

अगर प्रधान, (तथाकथित) सत् जो कि सर्व भोग्य वर्ग का कारण है, हेय या अहेय वस्तु के रूप में विज्ञात हो भी जाए, तो भी भोक्तृ वर्ग (experiencer) का विज्ञान नहीं हो पायेगा क्योंकि भोक्तृ वर्ग तो प्रधान का विकार है ही नहीं। इसलिए, प्रधान सत् शब्द का वाच्य नहीं है।

और किस कारण से प्रधान सत् शब्द का वाच्य नहीं है?

(इसके लिए अगला सूत्र–स्वाप्ययात्)

1.1.9

स्वाप्ययात्

(*जीव के अपनी आत्मा में विलय के कारण*)

सत् शब्द वाच्य, जो कि कारण है, उसके बारे में श्रुति में यह सुना जाता है – 'जब, इस प्रकार, पुरुष (सोते समय) 'स्वपिति' नाम होता है, तब, सौम्य, वह सत् से सम्पन्न हो जाता है, वह स्व (आत्मा) में अपित (विलीन) हो जाता है। इसलिए वे इसे 'स्वपिति (सोता है)' कहते हैं क्योंकि वह स्व में विलीन हो जाता है' (छां VI.viii.1)। यह श्रुति पुरुष के लोकप्रसिद्ध स्वपिति नाम की व्युत्पत्ति बताती है। यहाँ 'स्व' शब्द के द्वारा आत्मा कहा गया है। यहाँ अर्थ यह है कि वह (पुरुष) सत् शब्द वाच्य में विलीन हो जाता है, वह वहाँ पहुँच जाता है। धातु 'इ' अगर 'अपि' उपसर्ग के बाद आए तो वह लय के अर्थ में होता है, यह तो प्रसिद्ध है और 'प्रभवाप्ययौ' शब्द में उत्पत्ति-प्रलय के प्रयोग से दीखता भी है। मन के प्रचार (manifestation) उपाधि विशेष से संबंध के कारण ग्रहण किए हुए इंद्रियों के विषयों के प्रभाव में जीव जब तक रहता है तब तक वह जाग्रत अवस्था में रहता है। उससे (जाग्रत अवस्था से) उत्पन्न विशिष्ट वासना के कारण जीव स्वप्न देखता है और मन शब्द वाच्य होता है। इन दोनों उपाधियों के शांत होने पर सुषुप्ति अवस्था में उपाधिकृत विशेषता के अभाव के कारण स्वात्मा में प्रलीन जैसा होता है और 'स्व (आत्मा) में विलीन है' कहा जाता है। जैसा कि श्रुति में हृदय शब्द के निर्वचन (derivation) से दर्शित है – वह आत्मा हृदय में है, यही इसकी व्युत्पत्ति है – हृदि अयम् ; इसलिए इसे हृदय कहा जाता है। या जैसा अशनाय, उदन्य शब्द की प्रवृत्ति के मूल से श्रुति दर्शाती है – 'आप (जल) एव (ही) अशितम् (खाए हुये भोजन को) नयन्ते (पचाता है) (इस प्रकार, अशनाय जल को कहा जाता है)' 'तेज एव तत्पीतम् (drunk, उदक) नयते (dries up) (इस प्रकार, उदन्य तेज को कहा जाता है)'। इसी प्रकार, निर्वचन के द्वारा स्वपिति नाम का अर्थ दिखाया गया है 'सत् शब्द वाच्य स्व आत्मा में (जीव) विलीन होता है'। चेतन आत्मा अचेतन प्रधान का स्वरूप नहीं हो सकता। अगर यह माना जाए कि आत्मीयता के कारण प्रधान ही 'स्व' शब्द के द्वारा कहा गया है तो भी चेतन का अचेतन में विलय विरुद्ध ही है। अन्य श्रुति 'प्राज्ञ आत्मा के द्वारा पूर्णत: आच्छादित यह बाहर-अंदर कुछ भी नहीं जानता' भी सुषुप्ति अवस्था में (जीव का) चेतन में विलय ही दर्शाती है। इसलिए जिसमें सभी चेतन विलीन होते हैं, वह चेतन सत् शब्द वाच्य जगत् का कारण है, प्रधान नहीं।

और किस कारण से प्रधान जगत्कारण नहीं है?

(इसके लिए अगला सूत्र – गतिसामान्यात् –)

1.1.10

गतिसामान्यात्

([सभी वेदांतों मे वर्णित] ज्ञान [चेतन ही जगत्कारण है] की समानता के कारण)

यदि तार्किकों की तरह वेदान्त में कारण (जगत्कारण) की भिन्न-भिन्न अवगति (comprehension) होती – कहीं चेतन ब्रह्म जगत्कारण होता, कहीं अचेतन प्रधान, कहीं अन्य कोई देव – तब शायद 'श्रवण' आदि के अर्थ की कल्पना प्रधान के कारणवाद (Pradhan is the cause) के समर्थन में की जा सकती होती। पर ऐसा तो है नहीं। सभी वेदान्त में चेतन की ही कारण के रूप में अवगति है। 'जिस प्रकार जलती अग्नि से सभी दिशाओं में स्फुलिंग निकलते हैं, उसी प्रकार आत्मा से सभी प्राण निकलते हैं; प्राण से देवता (इंद्रियाँ) तथा देवताओं से लोक (sense objects) निकलते है' 'उस आत्मा से, जो ऐसा है, आकाश उत्पन्न हुआ' 'आत्मा से ही यह सब आया'। 'आत्मा से ही यह प्राण जन्मा' ये सभी वेदान्त आत्मा का ही कारणत्व दर्शाते हैं। और यह कहा गया कि आत्म शब्द चेतन वचन है (आत्म शब्द चेतन वस्तु का संकेत करता है)। जिस प्रकार चक्षु आदि रूप आदि के बारे में समान ज्ञान देते हैं उसी प्रकार वेदान्त वाक्य भी, चेतन जगत्कारण है, इसके बारे में समान ज्ञान देते हैं (सभी वेदान्त एक ही बात कहते हैं कि चेतन जगत्कारण है) और यह वेदान्त की प्रामाणिकता का एक महान कारण है। इस प्रकार, ज्ञान में समानता के कारण सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्कारण है।

और किस कारण से सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्कारण है?

(*इसके लिए अगला सूत्र – श्रुतत्वाच्च –)*

1.1.11

श्रुतत्वाच्च

([ब्रह्म के] श्रुति में व्यक्त होने के कारण)

श्वेताश्वतर उपनिषद् के शब्दों में सर्वज्ञ ईश्वर जगत् का कारण है। सर्वज्ञ ईश्वर को प्रस्तुत कर, उपनिषद् कहता है – 'वह कारण है। वह करणाधिप (master of senses) का भी शासक है। उसका कोई जनक नहीं। उसका कोई शासक नहीं'। इस प्रकार, सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्कारण है, अचेतन प्रधान या कोई अन्य नहीं, यह सिद्ध है।

THE BLISSFULL ONE
1.1.12 to 1.1.19

1.1.12

आनन्दमयोऽभ्यासात्

पू – यह न्यायपूर्वक प्रतिपादित हुआ कि वेदांतवाक्य जो 'जन्माद्यस्य यत:' से आरंभ कर 'श्रुतत्वाच्च' तक सूत्रों के द्वारा उदाहृत हैं, वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर, जो जगत् के जन्मस्थितिलय का कारण है, का प्रतिपादन करते हैं। और यह कह कर कि सभी वेदांतों में गति (ज्ञान) समान है, यह व्याख्या की गयी कि सभी वेदान्त चेतन कारण वादी हैं (जगत् का कारण चेतन है)। तो फिर आगे के ग्रंथ का उत्थान (आरंभ) किस लिए है?

सि – (शास्त्र से) ब्रह्म दो रूपों में अवगत होता है। एक नाम-रूप-विकार-भेद-उपाधि-विशिष्ट ब्रह्म तथा दूसरा इसके विपरीत सर्वउपाधिविवर्जित ब्रह्म। 'जब (सत्य) द्वैत जैसा होता है तो कोई किसी को देखता है, पर जब (ब्रह्मज्ञ के लिए) यह सब आत्मा हो जाता है तो कोई क्या देखे और कैसे देखे' 'जब अन्य को न देखता है, न सुनता है, न जानता है तो वह भूमा (अनंत) है, जब अन्य को देखता, सुनता और जानता है तो वह अल्प है, जो भूमा है वह अमृत है, जो अल्प है वह मर्त्य है' 'वह धीर सभी रूपों को रच कर, उन्हे नाम देकर (उनमे जीव रूप से प्रवेश कर), उन नामों को उच्चरित करता है' 'वह निष्कल, निष्क्रिय, शांत, निरवद्य, निरंजन, अमृत के लिए परम सेतु, वैसी अग्नि के समान जिसका ईंधन दग्ध हो, है' 'नेति नेति' 'यह न स्थूल है न अणु' 'कहीं न्यून है तो कहीं सम्पूर्ण', आदि वाक्यों द्वारा सहस्रों प्रकार से विद्या और अविद्या के भेद के द्वारा ब्रह्म की द्विरूपता द्खते हैं। इस प्रकार, अविद्या अवस्था में ब्रह्म उपास्य और उपासक के द्वारा सामान्य व्यवहार मे आता है। इन ब्रह्म की उपासनाओं में कुछ अभ्युदय के लिए, तो कुछ क्रममुक्ति के लिए तो कुछ कर्मसमृद्धि के लिए होती हैं। वे उपासनाएं गुण और उपाधि के भेद के द्वारा भिन्न हैं। यद्यपि एक ही पर आत्मा, जो कि ईश्वर है, गुण विशेष से विशिष्ट उपास्य होता है, फिर भी गुण के आधार पर उपासना के फल भिन्न होते हैं (जैसे कि एक ही ईश्वर अगर सतोगुण के साथ पूजित हो और रजोगुण के साथ पूजित हो, तो फल भिन्न होंगे, यद्यपि एक ही ईश्वर उपासित हो रहा है), 'उसे (आत्मा को) जिस जिस प्रकार से उपासना करो, वह (जीव) उस प्रकार का हो जाता है' 'इस लोक से जाने के बाद पुरुष वैसा हो जाता है जैसा उसने इस लोक मे चाहा था' 'गीता 8.6'। यद्यपि एक ही आत्मा सभी भूतों में, सभी स्थावर जंगम में गूढ रूप से है, फिर भी 'जो आत्मा के आविस्तर (प्रकटतर – more pronounced) रूप की उपासना करता है, वह आत्मा को प्राप्त करता है' इस वाक्य द्वारा नित्य एक रूप, कूटस्थ होने पर भी आत्मा के ऐश्वर्य और शक्ति में तारतम्य (gradation) देखा जाता है। ऐसा चित्त उपाधि के तारतम्य के कारण होता है (आत्मा के भेद के कारण नहीं)। स्मृति मे भी 'गीता 10.41'के द्वारा यह विधान किया गया कि जहाँ भी विभूति का अतिशय है, वह ईश्वर रूप में उपास्य है। **इसी प्रकार** यहाँ भी, आदित्य मण्डल में हिरण्मय पुरुष पर (आत्मा) है ऐसा कहा जाएगा, क्योंकि (हिरण्मय पुरुष के) सर्व पाप रहित होने के कारण आत्मा का ही लक्षण कहा गया है। यही (व्याख्या का तरीका) 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' आदि में भी द्रष्टव्य है। यद्यपि आत्म ज्ञान सद्य:मुक्ति (instantaneous liberation) देता है, फिर भी यह आत्म ज्ञान तो उपाधि विशेष के मदद के द्वारा ही दिया जाता है। इस प्रकार यद्यपि उपाधि विशेष के साथ संबंध अविवक्षित (not sought to be imparted) है, फिर भी पर और अपर ब्रह्म का उल्लेख होने के कारण (आत्म ज्ञान) इन दोनों मे से किससे सम्बद्ध है, इसमें संदेह हो सकता है। इसका निर्णय वाक्यों की गति (trend of sentences) के द्वारा करना होगा। 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' भी यहाँ उदाहरण के

रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। ब्रह्म एक है फिर भी उपाधि-संबंध-अपेक्षित और उपाधि-संबंध-रहित रूप में क्रमश: उपास्य और ज्ञेय है, ऐसा वेदान्त में उपदिष्ट है, यह दिखाने के लिए आगे का ग्रंथ आरंभ किया जाता है। 'गतिसामान्यात्' के द्वारा अचेतन कारण का निराकरण किया गया था, अब आगे का ग्रंथ वाक्यों को ब्रह्म विषयक बताते हुए, ब्रह्म के विपरीत अन्य कारण का निषेध करता है।

पू – तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय के बारे मे बताने के बाद यह कहा गया कि 'इस विज्ञानमय आत्मा के अंदर एक अन्य आनंदमय आत्मा है'। यहाँ संशय होता है कि 'आनंदमय' शब्द के द्वारा परम ब्रह्म कहा गया है जो कि 'सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म' में बताया गया है या फिर अन्नमय आदि की तरह ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य वस्तु को कहा जा रहा है। यहाँ क्या अर्थ लेना चाहिए?

वृत्तिकार – आनंदमय अमुख्य आत्मा, ब्रह्म से भिन्न, होना चाहिए। क्यों? क्योंकि यह अन्नमय आदि अमुख्य आत्मा के प्रवाह में पतित (प्रकरण में निरूपित) है।

पू – लेकिन फिर भी सभी का अंतर होने के कारण आनंदमय मुख्य आत्मा होना चाहिए।

वृत्तिकार – नहीं। क्योंकि वह (आनंदमय) प्रिय आदि अवयवों से युक्त है तथा (उपनिषद् में) उसका शारीरत्व सुना जाता है। अगर यह मुख्य आत्मा होता तो इसका प्रिय आदि के साथ संस्पर्श नहीं हो सकता था। पर यहाँ तो 'प्रिय उसका सिर है' आदि सुना जाता है। शारीरत्व भी सुना जाता है 'उस पूर्ववर्णित (विज्ञानमय) का यह शारीर आत्मा (आनंदमय) है'। यहाँ पूर्ववर्णित से विज्ञानमय और शारीर आत्मा से आनंदमय अर्थ है। सशरीर का प्रिय और अप्रिय से संबंध – निषेध संभव नहीं है। इसलिए आनंदमय से संसारी आत्मा अर्थ है।

सि – यहाँ कहा जाता है – आनन्दमयोऽभ्यासात् –

(अभ्यास (repetition) के कारण आनंदमय परम आत्मा है)

परम आत्मा ही आनंदमय होने के योग्य है। क्यों? अभ्यास के कारण। परम आत्मा के संदर्भ में ही आनंद शब्द बहुत बार प्रयुक्त है। आनंदमय को प्रस्तुत कर 'रसो वै स: (आत्मा)' के द्वारा उसके रसत्व को बता कर 'यह (जीव) रस को प्राप्त कर आनंदी होता है। यदि आनंद इस आकाश (हृदयाकाश) में नहीं होता तो कौन चले और कौन प्राण ले और छोड़े (breathing)। यही लोगों को आनंदित करता है' 'वह इस आनंद की मीमांसा है' 'वह इस आनंदमय आत्मा को प्राप्त करता है' 'ब्रह्म के आनंद को जान कर किसी से भी नहीं डरता है' 'उसने आनंद ब्रह्म है, ऐसा जाना' अन्य श्रुति 'विज्ञानमानन्दम् ब्रह्म' में भी ब्रह्म आनंद शब्द से दृष्ट है। इस प्रकार, ब्रह्म के लिए आनंद शब्द का बहुत बार प्रयोग से यह समझा जाता है कि आनंदमय आत्मा ब्रह्म है।

तुमने यह जो कहा अन्नमय आदि अमुख्य आत्मा के प्रवाह में पतित होने के कारण आनंदमय भी अमुख्य है, तो यह कोई दोष नहीं, क्योंकि आनंदमय तो सर्वांतर है। शास्त्र मुख्य आत्मा का उपदेश करना चाहता है और इसके लिए सामान्य जन की बुद्धि का अनुसरण करता है। इसके लिए शास्त्र अत्यंत मूढ़ व्यक्तियों मे आत्मा रूप से प्रसिद्ध (वस्तुत:) अनात्मा अन्नमय

शरीर को लेता है और उसके उत्तरोत्तर (प्राणमय आदि) अनात्मा को, जो पिछले से अंदर और समान है, पिछले का आत्मा कहता है (जैसे प्राणमय को अन्नमय का आत्मा कहता है यद्यपि प्राणमय भी अनात्मा है)। यह साँचे में पिघला ताम्र डाल कर प्रतिमा बनाने के जैसा है। इस प्रकार शास्त्र सर्वांतर आनंदमय, जो मुख्य आत्मा है, का सुगम तरीके से उपदेश करता है। यह तर्कपूर्ण व्याख्या है। जिस प्रकार अरुंधती दर्शन में मुख्य अरुंधती तारक को, अनेक समान अमुख्य अरुंधती तारकों को दिखाने के बाद, अंत मे दिखाया जाता है; उसी प्रकार, यहाँ भी आनंदमय **सर्वांतर होने के कारण** (अरुंधती न्याय के द्वारा) मुख्य आत्मा ही है।
और तुमने यह जो कहा कि मुख्य आत्मा के लिए सिर आदि की कल्पना अयुक्त है, यह कोई दोष नहीं, क्योंकि यह कल्पना तो पहले की उपाधि (विज्ञानमय) की उपस्थिति के कारण है और यह आनंदमय का स्वभाव नहीं है। आनंदमय का शारीरत्व भी अन्नमय आदि के शारीरत्व की परंपरा से प्रदर्शित है और इसलिए संसारी (जीव) की तरह (आनंदमय का) साक्षात् शारीरत्व नहीं है। इसलिए आनंदमय परम आत्मा ही है।

1.1.13

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्

(अगर यह कहते हो कि आनंदमय इसलिए ब्रह्म नहीं है क्योंकि विकार शब्द (मयट् प्रत्यय) है, तो हम कहते हैं,ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ विकार शब्द प्रचुरता के अर्थ में प्रयुक्त है)

पू – आनंदमय परम आत्मा हो ही नहीं सकता। क्यों? मयट् प्रत्यय, जो कि विकार सूचक है, के प्रयोग के कारण। चूँकि मयट् प्रत्यय विकार सूचक है इसलिए आनंदमय शब्द विकारार्थक है, और इस प्रकार आनंद शब्द से भिन्न है। इसलिए आनंदमय अन्नमय आदि की तरह ही विकारविषयक है।

सि – नहीं। क्योंकि स्मृति (पाणिनी व्याकरण) के अनुसार मयट् प्रचुरता के अर्थ मे भी प्रयोग होता है। स्मृति में 'तत्प्रकृतवचने मयट्' सूत्र से मयट् (मूल की) प्रचुरता दिखलाता है। जैसे 'अन्नमय यज्ञ' में अन्नमय से अन्न की प्रचुरता कही जाती है, उसी प्रकार आनंद की प्रचुरता के कारण ब्रह्म आनंदमय कहा जाता है। (तैत्तिरीय उपनिषद् में आनंद का तारतम्य बताते समय) मनुष्य लोक से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर स्थानो में आनंद सौ गुना होता है, ऐसा कहकर ब्रह्मानन्द को निरतिशय (सर्वोच्च) बताने के कारण ब्रह्म की आनंद प्रचुरता सिद्ध है। इसलिए मयट् प्राचुर्यार्थ में है (विकारार्थ में नहीं)।

1.1.14

तद्धेतुव्यपदेशाच्च

(और इसलिए क्योंकि ब्रह्म को आनंद का हेतु बताया गया है)

मयट् प्रत्यय प्राचुर्यार्थ मे इसलिए भी प्रयुक्त है क्योंकि श्रुति 'यही (सबको) आनंदित करता है' इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म को आनंद का हेतु (कारण) घोषित करती है। यहाँ 'आनंदयाति' आनंदयति के अर्थ मे है। जो दूसरे को आनंदित करता है उसके पास आनंद की प्रचुरता है, यह प्रसिद्ध है, जैसे कि संसार में जो दूसरों को धनी करता है वह स्वयं प्रचुरधन जाना जाता है। और चूंकि मयट् प्राचुर्यार्थ के रूप मे भी प्रयुक्त हो सकता है, इसलिए आनंदमय परम आत्मा ही है।

1.1.15

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते

(जो ब्रह्म मंत्र मे कहा गया, वही ब्रह्म ब्राह्मण (जिसमें मंत्र की व्याख्या है) में कहा गया है)

आनंदमय परम आत्मा एक और कारण से होना चाहिए – 'ब्रह्मविद् परम को प्राप्त करता है' से प्रारम्भ कर 'सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म' इस मंत्र में सत्य, ज्ञान, अनंत विशेषण से निर्धारित जिस ब्रह्म के बारे मे कहा गया, जिससे आकाश आदि क्रम से सारे स्थावर जंगम भूत जन्म लेते हैं, जो भूतों की सृष्टि करने के उपरांत उनमें प्रवेश कर सर्वांतर गुहा में स्थित है, जिसे जानने के लिए (तैत्तिरीय में) 'अन्य अंतरात्मा है' 'अन्य अंतरात्मा है' के द्वारा एक नए प्रकरण का आरंभ किया गया, वही मंत्र में वर्णित ब्रह्म ब्राह्मण में 'अन्य अंतरात्मा आनंदमय है' कहा गया है। मंत्र और ब्राह्मण में अविरोध के कारण एकार्थ युक्त है। अन्यथा (मंत्र से ब्राह्मण की भिन्नता मानने पर) प्रकृत (topic under discussion) की हानि तथा अप्रकृत का आरंभ होगा। अन्नमय आदि की तरह आनंदमय के लिए कोई अन्य अंतरात्मा नहीं कही गयी है। और भार्गवी वारुणी विद्या 'आनंद को ब्रह्म ही जाने' भी इसी मे (आनंदमय) निष्ठ (relates to this only) है। इसलिए आनंदमय परम आत्मा ही है।

1.1.16

नेतरोऽनुपपत्तेः

(अन्य (जीव) परम आत्मा नहीं है क्योंकि ऐसा होना अनुपपन्न होगा)

एक और कारण से आनंदमय परम आत्मा है, इतर नहीं। यहाँ इतर का अर्थ ईश्वर से भिन्न संसारी जीव है। आनंदमय शब्द से जीव नहीं कहा जाता है। क्यों? अनुपपन्न होने के कारण। आनंदमय के प्रकृत (प्रकरण) में श्रुति कहती है 'उसने कामना की – मैं बहुत हो जाऊँ, मैं जन्म लूँ – उसने तप किया। तप कर के उसने इन सब, यह जो कुछ भी है, का सृजन किया'। शरीर की उत्पत्ति के पूर्व अभिध्यान, सृष्टिकर्ता और (सृष्टि तथा विकार) में अभिन्नता, तथा सभी विकारों की सृष्टि परम आत्मा के अलावा किसी अन्य (जीव) में उपपन्न नहीं है।

1.1.17

भेदव्यपदेशाच्च

((जीव और ईश्वर में) भेद के कथन के कारण)

एक और कारण से आनंदमय संसारी (जीव) नहीं है; आनंदमय के प्रकरण में 'रसो (आनंद) वै सः। रसम् लब्धवा आनंदी भवति' इस वाक्य के द्वारा जीव और आनंदमय का भेद कहा गया है (जीव रस को प्राप्त कर आनंदी होता है)। लब्धा (जीव) लब्धव्य (रस/आनंद) नहीं होता।

पू – अगर लब्धा लब्धव्य नहीं होता तो फिर श्रुति और स्मृति में कहा गया 'आत्मा अन्वेष्टव्य है' 'आत्म लाभ (आत्मा की प्राप्ति) से श्रेष्ठ कुछ नहीं है' किस प्रकार युक्त है?

सि – ठीक है। फिर भी सामान्य लौकिक जनों की दृष्टि में, सत् तत्त्व अनवबोध (अज्ञान) के कारण, वाला होने पर भी, देह आदि अनात्मा में मिथ्या आत्मत्व देखा जाता है, यद्यपि आत्मा अप्रच्युत (अच्युत) आत्मभाव युक्त रहता है (अर्थात् आत्मा का आत्मभाव नष्ट नहीं होता है)। उस देहादि भूतात्मा के द्वारा तो आत्मा (परम आत्मा) के लिए 'अनन्विष्ट:' 'अन्वेष्टव्य:' 'अलब्ध:' 'लब्धव्य:' 'अश्रुत:' 'श्रोतव्य:' 'अमत:' 'मंतव्य:' 'अविज्ञात:' 'विज्ञातव्य:' आदि भेद (जीव/आत्मा) का कथन युक्त है। परमार्थत: तो सर्वज्ञ परमेश्वर के अलावा अन्य द्रष्टा या श्रोता का 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' आदि के द्वारा प्रतिषेध किया गया है। परमेश्वर, अविद्याकल्पित शारीर (शरीराभिमानी), कर्ता, भोक्ता जो विज्ञानात्मा नाम से जाना जाता है, से भिन्न है (विज्ञानात्मा, इस प्रकार जीव का ही नाम हुआ)। यह भिन्नता सूत्र पर आरूढ़ चर्मखड्गधारी मायावी और परमार्थरूप भूमिष्ठ मायावी के समान है। या फिर जैसे घट-उपाधि-परिच्छिन्न आकाश अनुपाधि परिच्छिन्न आकाश से भिन्न है। विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा के इसी भेद के आश्रित होकर 'नेतरोऽनुपपत्ते:' एवम् 'भेदव्यपदेशाच्च' कहा गया है।

1.1.18

कामाच्च नानुमानापेक्षा

(काम के उल्लेख के कारण (प्रधान के जगत्कारणत्व के लिए) अनुमान की अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं है)

आनंदमय के प्रकरण में 'उसने कामना की – मैं बहुत हो जाऊँ, मैं जन्म लूँ' के द्वारा कामयितृत्व का निर्देश है। इस कारण (कामयितृत्व के कारण) सांख्य द्वारा अनुमान से परिकल्पित अचेतन प्रधान आनंदमय रूप या कारण (जगत्कारण) रूप, दोनों में ही मन्तव्य (अपेक्षित) नहीं है। यद्यपि प्रधान का निराकरण 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' सूत्र के द्वारा किया जा चुका है, फिर भी गतिसामान्यता (concurrence of knowledge in different texts) की व्याख्या करने के लिए प्रसंगवश पूर्वसूत्र उदाहृत (1.1.16) कामयितृत्व श्रुति के आधार पर (प्रधान का) पुनः निराकरण किया जाता है।

1.1.19

अस्मिन्नस्य च तद्योगम् शास्ति

(इसके अलावा, शास्त्र इसका (जीव का) इससे (आनंदमय से) तद्योग (तद्भाव या अभेद) बताता है)

एक और कारण से आनंदमय शब्द से न तो प्रधान वाच्य है और न ही जीव – शास्त्र प्रतिबुद्ध जीव की, प्रकृत (प्रकरण निरूपित) आत्मा, जो कि आनंदमय है, से तद्योग (अभेद) बताता है। तद्योग तदात्म (identity) योग, तद्भाव अर्थात् मुक्ति के अर्थ में है। शास्त्र इस तद्योग को इस प्रकार बताता है 'जब इस अदृश्य, अनात्मा, अनिरुक्त, अनिलयन, अभय में प्रतिष्ठित होता है, तब अभय को प्रपट होता है। पर जब वह (साधक) इसमें थोड़ा भी अंतर करता है, तब उसको भय होता है'। इस प्रकार यह कहा जा रहा है 'जब तक (जीव) इस आनंदमय में थोड़ा सा भी अतादात्म्य (non-identity) रूपी अंतर देखता है, तब तक संसार का भय दूर नहीं होता है; पर जब इस आनंदमय से निरंतर तादात्म्य में प्रतितिष्ठित होता है, तब संसार भय दूर हो जाता है'। अब यह तो तभी संभव है जब आनंदमय का अर्थ परम आत्मा हो न की प्रधान या जीव। इसलिए आनंदमय परम आत्मा है, यह सिद्ध है।

शंकराचार्य का संशोधन

यहाँ यह कहना चाहिए – 'वह पुरुष अन्नरसमय है' 'उस अन्नरसमय की तुलना में एक अन्य प्राणमय अंतरात्मा है' फिर 'एक अन्य मनोमय अंतरात्मा है' फिर 'एक अन्य विज्ञानमय अंतरात्मा है' इन वाक्यों में विकार के अर्थ में मयट् प्रत्यय का प्रवाह (continuous use) है, फिर एकाएक आनंदमय के लिए ही मयट् प्राचुर्यार्थक क्यों है या फिर आनंदमय ही ब्रह्मविषयक क्यों है?

पू – क्योंकि मंत्र वर्णित ब्रह्म का प्रकरण है।

शंकर – नहीं। क्योंकि फिर तो अन्नमय आदि के लिए भी ब्रह्मत्व का प्रसंग हो जाएगा।

पू – अन्नमय आदि का अब्रह्मत्व युक्त है क्योंकि उनके लिए क्रमिक रूप से अन्य अंतरात्मा का उल्लेख है। पर आनंदमय के लिए कोई अन्य अंतरात्मा का उल्लेख नहीं है। इसलिए आनंदमय से ब्रह्मत्व मन्तव्य है, अन्यथा प्रकृत (प्रकरण) की हानि तथा अप्रकृत की प्रक्रिया का प्रसंग होगा।

शंकर – यद्यपि अन्नमय आदि की तरह आनंदमय के लिए अन्य अंतरात्मा उल्लिखित नहीं है, फिर भी आनंदमय ब्रह्म नहीं हो सकता; क्योंकि आनंदमय के प्रकृत में यह कहा गया है 'प्रिय उसका सिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनंद आत्मा है तथा ब्रह्म पूंछ है जो प्रतिष्ठा (stabilize/support) देता है'। इस प्रकार जो ब्रह्म 'सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म' के द्वारा मंत्र वर्णित प्रकृत है, वही यहाँ 'ब्रह्म पूंछ है जो प्रतिष्ठा देता है' कहा गया है। यही बताने के लिए (कि ब्रह्म प्रतिष्ठा देता है) अन्नमय से लेकर आनंदमय तक पाँच कोशों की कल्पना की गयी है। फिर किस प्रकार प्रकृत (प्रकरण) की हानि तथा अप्रकृत की प्रक्रिया का प्रसंग हो रहा है।

पू – पर 'ब्रह्म पूंछ है जो प्रतिष्ठा देता है' के द्वारा ब्रह्म को आनंदमय का अवयव कहा गया है जैसे कि अन्नमय आदि के प्रकृत में 'यह पूंछ है जो प्रतिष्ठा देता है' कहा गया है। फिर यह कैसे जाना गया कि ब्रह्म यहाँ स्वतंत्र रूप से वर्णित है।

शंकर – प्रकरण में वर्णित होने के कारण।

पू – ब्रह्म को अगर आनंदमय का अवयव मानें तो भी प्रकृत की हानि नहीं होती क्योंकि ब्रह्म ही आनंदमय है।

शंकर – फिर तो एक ही ब्रह्म के अवयवी आनंदमय आत्मा होने से और साथ ही आनंदमय का पुच्छ प्रतिष्ठा अवयव होने के कारण असामंजस्य होगा। अगर इन दोनों मे से किसी एक को मानना हो तो 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' मानना युक्त है क्योंकि यहाँ ब्रह्म शब्द आने के कारण ब्रह्म का निर्देश होना तर्कपूर्ण है। लेकिन आनंदमय के वाक्य में ब्रह्म शब्द नहीं है, इसलिए वहाँ (आनंदमय को ब्रह्म मानना) युक्त नहीं है। इसके अलावा, 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' ऐसा कह कर यह कहा गया 'इस विषय में (ब्रह्म के विषय में) यह श्रुति है 'अगर कोई ब्रह्म को असत् जनता है तो वह स्वयम् भी असत् हो जाता है। अगर कोई ब्रह्म को सत् जानता है तो वे उसे उसके इस ज्ञान के कारण सत् मानते हैं''। चूंकि यहाँ केवल ब्रह्म के सत् और असत् में विश्वास

का गुण और दोष उद्‌धृत है तथा आनंदमय का उल्लेख नहीं है, इसलिए यह समझना चाहिए कि 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' में ब्रह्म स्वप्रधान रूप से उल्लिखित है (appearing in its own right)। और आनंदमय के भाव अभाव (सत् असत्) के विषय मे तो कोई शंका युक्त भी नहीं है क्योंकि प्रिय, मोद आदि से विशिष्ट आनंदमय सर्वलोकप्रसिद्ध है।

पू – तो फिर क्यों स्वप्रधान सद्‌ब्रह्म आनंदमय के पूंछ के रूप में 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' द्वारा निर्दिष्ट है?

शंकर – यह कोई दोष नहीं। यहाँ ब्रह्म का अवयव रूप से निरूपण उद्देश्य नहीं है। यहाँ यह बताना उद्देश्य है कि ब्रह्म, जो कि आनंद है, वह एक पूंछ के समान है और यह पूंछ के समान सहारा देता है। यहाँ यह विवक्ष्य (idea sought to be imparted) है कि ब्रह्म, जो कि आननद है, वह सभी लौकिक आनंदों का एकमात्र स्थान तथा पराकाष्ठा है। अन्य श्रुति कहती है 'इस आनंद के एक कण से सभी भूत जीवित हैं'। अगर आनंदमय से ब्रह्मत्व मानना है तो सविशेष ब्रह्म (qualified Brahman) मानना होगा जो प्रिय आदि अवयवो वाला है। पर वाक्य के अंत में निर्विशेष ब्रह्म कहा गया है जो मन और वाणी से अगोचर है – 'ब्रह्म के आनंद, जहां से वाणी मन के साथ लौट आती है, को प्राप्त कर विद्वान् किसी चीज़ से नहीं दर्ता है'। और फिर आनंद की प्रचुरता के कथन से दुख की उपस्थिति सूचित होती है क्योंकि संसार में किसी वस्तु की प्रचुरता अपने प्रतिलोम के अल्पत्व की अपेक्षा से होती है (अगर वह सम्पूर्ण आनंद नहीं है बल्कि आनंदमय है तो उसमे अवश्य आनंद के साथ थोड़ा दुख भी होगा)। पर श्रुति 'जिसमें न अन्य को देखता है, न सुनता है और न जानता है, वह भूमा है' में भूमा, जो ब्रह्म है, के सिवा सबका अभाव है, और इस प्रकार (प्रतिलोम के अल्प भाव को मानने पर) श्रुति बाधित हो जाएगी। हर शरीर में प्रिय आदि के भेद से (हर शरीर के अंदर) आनंदमय में भिन्नत्व है पर ब्रह्म सभी शरीरों मे एक ही है, अलग-अलग नहीं। जैसा कि श्रुति कहती है 'सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म' तथा 'एक ही सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा देव सभी भूतों में गूढ (hidden) है'।

और आनंदमय का तो अभ्यास (repetition) भी नहीं है। बल्कि आनंदमय के प्रतिपादिक अर्थ मात्र (आनंद) का अभ्यास देखा जाता है 'रसो वै स:। रसम् ह्येवायम् लब्धवा आनंदी भवति। को ह्येवान्यात्क: प्राण्यात्। यदेष आकाश आनंदो न स्यात्' 'यह आनंद की मीमांसा है' 'विद्वान् ब्रह्म के आनंद को जानकर किसी से नहीं डरता' 'उसने ब्रह्म को आनंद जाना'। यदि आनंदमय शब्द से ब्रह्म निश्चित रूप से मन्तव्य होता तो केवल आनंद के प्रयोग मे आनंदमय के प्रयोग की कल्पना करनी होती। पर आनंदमय ब्रह्म नहीं है क्योंकि उसे प्रिय आदि सिर हैं तथा और भी यथा उक्त कारण हैं। अन्य श्रुति 'विज्ञानम् आनंदम् ब्रह्म' में आनंद पद, जो प्रातिपदिक अर्थ (आनंदमय) है, उसका ब्रह्म के लिए प्रयोग दर्शित है। 'यदेष आकाश आनंदो न स्यात्' में, इस प्रकार, आनंद से ब्रह्म मंतव्य है। यह समझना चाहिए कि आनंद शब्द आनंदमय का अभ्यास नहीं है (अर्थात् आनंद का प्रयोग आनंदमय का प्रयोग नहीं है)।

यह कहा गया था कि आनंद शब्द मयट् प्रत्यय के साथ 'उसने आनंदमय आत्मा की प्राप्ति की' प्रयुक्त है। पर यह आनंदमय तो ब्रह्मविषयक नहीं है क्योंकि यह विकारात्मक अनात्मक अन्नमय आदि की प्राप्ति के (प्रकरण में निरूपित) प्रवाह में पतित है।

पू – यदि आनंदमय का उपसंक्रमितव्य (प्राप्तव्य) अन्नमय आदि की तरह अब्रह्म होता तो विद्वानों के लिए ब्रह्मप्राप्ति का फल अनिर्दिष्ट (unspecified) रह जाता।

शंकर – यह कोई दोष नहीं। आनंदमय के उपसंक्रमण (प्राप्ति) के निर्देश के द्वारा विद्वानों द्वारा पुच्छ-प्रतिष्ठा-भूत ब्रह्म की प्राप्ति का फल अपने-आप निर्दिष्ट है। इसके अलावा, (ब्रह्मप्राप्ति के) फल की व्याख्या इन श्रुतियों में की गयी है 'तै II.ix'। और तुम्हारे द्वारा, आनंदमय की सन्निधि (proximity) में होने वाले, 'उसने इच्छा की। मैं बहुत हो जाऊँ, मैं जन्म लूँ' कहा गया। पर इससे आनंदमय का ब्रह्मत्व सिद्ध नहीं होता क्योंकि श्रुति 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' में उपस्थित ज्यादा निकट शब्द ब्रह्म से सम्बद्ध हो जाती है। और चूँकि इसके बाद के ग्रंथ के 'रसो वै स:' आदि इसकी (ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा) अपेक्षा से हैं (stem out of this), इसलिए भी वे आनंदमय का निरूपण नहीं करते हैं।

पू – यह अयुक्त होगा कि 'उसने इच्छा की' में 'वह' ब्रह्म सूचक हो क्योंकि 'स:' पुल्लिंग है (और ब्रह्म तो नपुंसक लिंग है)।

शंकर – यह दोष नहीं है। 'उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' में पुल्लिंग आत्मा के द्वारा ब्रह्म का प्रकृत है।

भार्गवी वारुणी विद्या 'आनंद को ब्रह्म जाना' में मयट् प्रत्यय और प्रिय आदि सिर के अनुल्लेख के कारण आनंद का ब्रह्मत्व युक्त है (अर्थात् आनंद ब्रह्म है)। इस प्रकार, जब तक ब्रह्म में विशेष (गुण/उपाधि) का आश्रय न लिया जाये, तब तक ब्रह्म में स्वत: प्रिय आदि सिर नहीं हो सकते हैं। और यहाँ सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन तो करना नहीं है क्योंकि मन और वाणी से अगोचरता की श्रुति है (जहां से वाणी के साथ मन लौट आता है)। इसलिए, अन्नमय आदि की ही तरह आनंदमय में भी मयट् विकारार्थक है, प्राचुर्यार्थक नहीं।

इसलिए सूत्रों की व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिए:-

1.1.12

(आनंदमय 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' में ब्रह्म स्वप्रधान रूप मे विवक्षित है, अभ्यास के कारण)

शंका – 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' में ब्रह्म आनंदमय के अवयव के रूप में विवक्षित है या स्वप्रधान रूप में?

पू – पुच्छ शब्द से यह प्राप्त होता है कि अवयव के रूप में कहा गया है।

शंकर – इसलिए कहा गया 'आनंदमयोऽभ्यासात्'; आनंदमय आत्मा, यहाँ पर (इस वाक्य में) 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' के द्वारा स्वप्रधान ब्रह्म का उपदेश है; यह अभ्यास के द्वारा सिद्ध है; 'वह असत् हो जाता है' आदि से भी सिद्ध है। (आदि गुरु कहते हैं कि 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा', जो कि आनंदमय के प्रकरण मे कथित है, में स्वप्रधान ब्रह्म का उपदेश है और यह बात अभ्यास के कारण सिद्ध है और यह अभी इस सूत्र के पूर्व में 'शंकर का संशोधन' के रूप में प्रस्तुत है)

1.1.13

(विकार शब्द (अवयव) के कारण कहते हो कि आनंदमय ब्रह्म नहीं है तो हम कहते हैं नहीं, क्योंकि शब्द प्राचुर्य के अर्थ में प्रयुक्त है)

विकार शब्द अवयव अर्थक है, इसलिए पुच्छ अवयव शब्दार्थक होने के कारण ब्रह्म का स्व प्रधानत्व नहीं है, ऐसा कहा गया। उसके परिहार के लिए कहते हैं – यह दोष नहीं, क्योंकि अवयव शब्द प्रचुरता के दृष्टिकोण से उपपन्न है। प्राचुर्य का अर्थ है सतत उपस्थिति। अर्थात कोई शब्द जिसकी अवयव के प्रकरण मे सतत उपस्थिति हो। अन्नमय आदि का सिर से पुच्छ तक वर्णन करने के बाद आनंदमय का सिर से पुच्छ तक वर्णन करना था, और अवयव की प्रायापत्ति (प्रचुरता/सतत उपस्थिति) होने के कारण 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' कहा गाय। यह ब्रह्म को अवयव बताने के लिए नहीं किया गया (बल्कि अंग विषय की सतत उपस्थिति के लिए किया गया)। और यह तथ्य ब्रह्म के स्वप्रधानत्व के, अभ्यास के आधार पर, कथन से भी स्पष्ट है।

1.1.14

(ब्रह्म के इस सब के (आनंदमय के भी) कारण होने कारण भी)

'उसने इस सब का, जो कुछ भी है, सृजन किया' में सभी विकारों का, आनंदमय सहित, कारण ब्रह्म कहा गया है। सद्ब्रह्म का, जो कि अपने विकार का कारण है, आनंदमय का मुख्य रूप से अवयव होना उपपन्न नहीं है। **अन्य सूत्र भी यथासंभव पुच्छ वाक्य मे निर्दिष्ट ब्रह्म को बताते हुये द्रष्टव्य हैं**। (आदि गुरु के अनुसार, इस अधिकरण के सभी सूत्र पुच्छ वाक्य से ही समझे जाने चाहिए।)

THE BEING INSIDE
1.1.20 to 1.1.21

1.1.20

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्

शंका – उपनिषद् में 'अब यह जो आदित्य के अंदर हिरण्मय पुरुष दिखता है, जिसके स्वर्ण के केश, श्मश्रु और नख पर्यंत सब कुछ स्वर्ण का है' 'उसके नयन पुंडरीक के समान जो कि कपि के आसन के समान है; उसका नाम उत् है; वह पुरुष सभी पापों से ऊपर है; जो ऐसा जानकर उस पुरुष की उपासना करता है, वह सभी पापों से रहित हो जाता है' (छां 1.6.6-8), ऐसा अधिदैवत: (अर्थात् देवता संबंधी चिंतन में) कहा गया। अब अध्यात्मत: (अर्थात् देह संबंधी चिंतन में) 'अब यह जो अक्षि के अंतर पुरुष दिखता है' (छां 1.7.5-8) इत्यादि कहा गया है।

तो यहाँ शंका होती है कि सूर्य मण्डल और आँखों के अंदर जो उपास्य पुरुष सुना जाता है, वह विद्या और कर्म के अतिशय (perfection) के कारण उत्कर्ष (eminence) को प्राप्त कोई संसारी (जीव) है अथवा नित्यसिद्ध परमेश्वर है। यहाँ क्या निष्कर्ष होना चाहिए?

पू – वह संसारी है। क्यों?

(श्रुति में उस के) रूप वाला सुने जाने के कारण (वह पुरुष परमेश्वर नहीं है) – आदित्य स्थित पुरुष के लिए 'हिरण्य श्मश्रु' इत्यादि रूप उदाहृत हैं; नयन स्थित पुरुष के लिए भी वही रूप अतिदेश के द्वारा (सदृश बोधन – by extension) प्राप्त होता है, 'इसका (नयनस्थ पुरुष का) रूप, उसके (आदित्यस्थ पुरुष के) रूप के समान है' (छां 1.7.5)। लेकिन 'अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय' इस श्रुति के अनुसार परमेश्वर का रूप वाला होना युक्त नहीं है।

(श्रुति में) आधार (place of residence) के श्रवण के कारण भी (वह पुरुष परमेश्वर नहीं है) – 'यह जो आदित्य के अंतर में है, यह जो नयन में है'। परंतु अनाधार, स्वप्रतिष्ठित, सर्वव्यापी परमेश्वर का आधार तो उपदिष्ट नहीं हो सकता है। श्रुति भी कहती है 'भगवन्, वह किसमें प्रतिष्ठित है? अपनी ही महिमा में' 'आकाश के समान नित्य सर्वगत' (इस प्रकार परमेश्वर का निराधार होना कहा गया है)।

ऐश्वर्य की मर्यादा (limitation) के श्रुति में होने के कारण भी (वह पुरुष परमेश्वर नहीं है) – आदित्यपुरुष की ऐश्वर्यमर्यादा है '(वह आदित्यस्थ पुरुष) सूर्य से ऊपर के लोकों पर तथा देवों की प्रिय वस्तुओं पर शासन करता है' तथा अक्षिपुरुष की ऐश्वर्यमर्यादा है 'वह, जो ऐसा है, आँखों के नीचे के लोकों पर तथा मनुष्यों की प्रिय वस्तुओं पर शासन करता है'।

परंतु परमेश्वर के ऐश्वर्य की मर्यादा होना युक्त नहीं है क्योंकि श्रुति में अविशेष (without qualifications) रूप से कहा है 'यह सर्वेश्वर है, यह भूताधिपति है, यह भूतों का पालन करने वाला है, यह विशेष रूप धारण करने वाला सब लोकों के असंभेदन (अनाश-स्थिति) के लिए सेतु के समान है और धर्म आदि मर्यादाओं का रक्षक है'।

इसलिए आदित्य और अक्षि के अंतरस्थ पुरुष परमेश्वर नहीं है।

सि – इसलिए कहते हैं –अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् –

((आदित्य और अक्षि के) अंतरस्थ पुरुष परमेश्वर है क्योंकि उसी के (परमेश्वर के) धर्मों का (गुणों का) उपदेश है)
'यह जो आदित्य के अंतर है' 'यह जो अक्षि के अंतर है' इत्यादि श्रुति में जो पुरुष वर्णित है, वह परमेश्वर है न कि संसारी (जीव) ।

क्यों?

क्योंकि उसी के धर्मों का उपदेश है। उस परमेश्वर के ही धर्मों का यहाँ उपदेश है। 'उसका नाम उत् है' इस प्रकार आदित्य पुरुष का नाम बताकर, 'वह, जो ऐसा है, सभी पापों से परे है' इस श्रुति के द्वारा उसके 'उत्' नाम की निरुक्ति (derivation) उसके सर्वपापमुक्त होने के कारण की गयी। फिर जिस नाम का निर्वचन (derivation) किया गया, उसी नाम का अतिदेश (extension) अक्षिपुरुष में 'इसका (अक्षिपुरुष का) नाम वही है जो उसका (आदित्यपुरुष का) नाम है' ऐसा कहकर किया गया। सर्वपापमुक्त तो 'जो आत्मा है, वह सभी पापों से परे है' आदि श्रुति के द्वारा केवल परमात्मा को ही कहा गया है। और 'वह (अक्षिपुरुष) ऋक है, साम है, उक्त्थ (a type of hymn) है, वह यजु है, वह ब्रह्म (तीनों वेद) है' इस श्रुति के द्वारा अक्षिपुरुष की ऋक, साम आदि से आत्मकता (identity) काही गयी है। यह तो केवल परमेश्वर के लिए ही उपपन्न है क्योंकि परमेश्वर का सर्वकारण होने से सर्वात्मक होना युक्त है। पुन: ऋक साम, जो अधिदैवत: पृथ्वी तथा अग्नि हैं तथा अध्यात्मत: वाक् तथा प्राण हैं, से आरंभ कर अधिदैवत: 'उसके (आदित्यस्थ पुरुष के) ऋक तथा साम शरीर के दो पर्व (joints – जोड़) हैं' यह कहा गया और फिर अध्यात्मत: 'उसके (अक्षिपुरुष के) वही दो पर्व हैं जो आदित्यपुरुष के पर्व हैं' यह कहा गया। यह तो उसके सर्वात्मक होने पर ही युक्त है। 'इसलिए जब ये पुरुष वीणा पर गाते हैं तो ये उसी को गाते हैं और इस प्रकार वे धनवान् हो जाते हैं' इस श्रुति के द्वारा यह दर्शाया गया कि लौकिक गान में भी संगीत के रूप से वही स्थित है। ऐसा तो तब ही हो सकता है जब वह पुरुष गीता दर्शनोक्त (10.41) परमेश्वर हो।

इसके अलावा, लोकों का निरंकुश शासकत्व जो उपनिषद् में वर्णित है, वह परमेश्वर को ही इंगित करता है।

तुमने यह जो कहा कि हिरण्य श्मश्रु आदि रूप वाला सुने जाने के कारण (उस पुरुष का) परमेश्वर होना उपपन्न नहीं है, तो उसके विषय में यहाँ कहते हैं – साधक के अनुग्रह के लिए, परमेश्वर के भी इच्छा के द्वारा अन्य माया रूप हो सकते हैं – जैसा कि स्मृति भी है 'नारद, यह जो तुम मुझे सर्व-भूत-गुण युक्त देखते हो, यह माया है और मेरे द्वारा सृष्ट है। मुझे तुम ऐसा (सर्वभूतगुण युक्त) मत समझो'। और जहाँ सर्व विशेषण रहित पारमेश्वर रूप उपदिष्ट होता है, वहाँ 'अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय' आदि शास्त्र हैं। परंतु सर्वकारण होने से, उपासना के लिए कभी-कभी, परमेश्वर विकार-धर्म-युक्त (possessed of mundane qualities) निर्दिष्ट है – 'सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस' इत्यादि। इसी प्रकार से हिरण्य श्मश्रु आदि का निर्देश होता है।

और जो यह कहा कि आधार के श्रवण के कारण (पुरुष) परमेश्वर नहीं है, तो यहाँ कहते हैं – स्वमहिमा प्रतिष्ठित का भी, आधार विशेष का उपदेश, उपासना के लिए हो सकता है, क्योंकि आकाश के समान सर्वगत होने के कारण ब्रह्म सर्वगत है, यह उपपन्न है।

ऐश्वर्य मर्यादा का श्रवण भी अधिदैव और अध्यात्म के विभाग की अपेक्षा से उपासना के प्रयोजन से ही है (ऐश्वर्य की मर्यादा के रूप में नहीं)।

इस प्रकार, अक्षि और आदित्य के अंतर में (स्थित पुरुष के रूप में) परमेश्वर ही उपदिष्ट है।

1.1.21

भेदव्यपदेशाच्चान्यः

(और भेद के कथन के कारण ईश्वर (जीव से) भिन्न है)

अंतर्यामी ईश्वर, सूर्य आदि शरीर अभिमानी जीवों से भिन्न है क्योंकि श्रुति में 'जो अदित्य में रहता है, जो अदित्य के अंतर में है, जिसे आदित्य नहीं जानता है, जिसका शरीर आदित्य है, जो सूर्य का अंतर से शासन करता है, वह अंतर्यामी अमृत (तुम्हारी) आत्मा है' इस वाक्य से (ईश्वर और जीव के) भेद का कथन है। वहाँ 'आदित्य के अंतर में है, जिसे आदित्य नहीं जानता है' इन कथनों से यह स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है कि अंतर्यामी, आदित्य आदि विज्ञानात्मा (जीव), जो जानने वाला (knower) है, से अन्य है। श्रुति की सामान्यता से (similarity of texts) यह युक्त है कि वही (आत्मा) यहाँ भी आदित्य का अंतरस्थ पुरुष है।

इसलिए परमेश्वर ही यहाँ उपदिष्ट है, यह सिद्ध है।

SPACE
1.1.22

1.1.22

आकाशस्तल्लिंगात्

छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित है 'इस लोक की क्या गति है? आकाश। क्योंकि ये सभी भूत (everything) आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश की ओर जाते हुये उसी में विलीन हो जाते हैं। आकाश इन सभी से श्रेष्ठ है। आकाश ही परम गति (परायण) है'। यहाँ संशय होता है कि आकाश शब्द से परम ब्रह्म कहा गया है अथवा भूताकाश (material / elemental space)।

यह संशय क्यों उत्पन्न हुआ?

इस शब्द के दोनों अर्थों में प्रयोग के दर्शन के कारण (यह संशय उत्पन्न हुआ)। वेद में और लोक में (common parlance) आकाश शब्द का भूत विशेष रूप में (elemental / material sense) प्रयोग सुप्रसिद्ध है। और कहीं-कहीं ब्रह्म का अर्थ भी प्रयुक्त होता है, जब या तो वाक्य शेष (remaining text) के कारण या फिर असाधारण गुण के श्रवण के कारण ब्रह्म ही निर्धारित अर्थ हो – जैसे कि 'अगर यह आकाश, जो कि आनंद (ब्रह्म) है, न होता' 'सचमुच आकाश ही नाम और रूप का निर्वहिता है। ये (नाम-रूप) जिसके अंतर में हैं, वह ब्रह्म है'। इसलिए यह संशय (उत्पन्न हुआ) है। तो यहाँ पर क्या युक्त होगा?

पू – भूताकाश होना चाहिए। क्यों? प्रयोग में प्रसिद्धि के कारण (यह अर्थ) बुद्धि में शीघ्रता से आता है। और इस 'आकाश' शब्द से दो अर्थ समान रूप से नहीं समझे जा सकते क्योंकि (इससे) अनेकार्थकता का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। इसलिए ब्रह्म आकाश-शब्द का गौण अर्थ होगा क्योंकि विभुत्व (all-pervasiveness) आदि बहुत सारे धर्मों में ब्रह्म और आकाश में सदृशता है। और फिर जब मुख्य अर्थ संभव है तो गौण अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता है। और यहन आकाश से मुख्य अर्थ का ग्रहण संभव है।

शंका – अगर (आकाश का अर्थ) भूताकाश लें तो 'ये सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं' इत्यादि वाक्य शेष (remaining text) उपपन्न नहीं होंगे।

पू – यह कोई दोष नहीं है। भूताकाश का भी वायु आदि के क्रम से कारणत्व तो उपपन्न ही है। और यह तो (श्रुति से) जाना ही गया है – 'उस ऐसे आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु और वायु से अग्नि' इत्यादि। और जहां तक श्रेष्ठता और अंतिम गति का प्रश्न है तो वह आकाश के अन्य भूतों (elements) की अपेक्षा से तो उपपन्न है ही। इसलिए, आकाश शब्द से भूताकाश का ग्रहण ही प्राप्त होता है।

सि – इसलिए, यहाँ कहते हैं – आकाशस्तल्लिंगात् –

(आकाश ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्म के लक्षणों का साक्ष्य [evidence] है)
यहाँ आकाश शब्द से ब्रह्म का ग्रहण युक्त है। क्यों? क्योंकि उसके लक्षण (यहाँ वर्णित) हैं। 'ये सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं' यह (वाक्य) पर ब्रह्म का ही लक्षण (तो बताता) है, क्योंकि वेदान्त की यह मर्यादा (established fact) है कि सभी भूतों की उत्पत्ति, पर ब्रह्म से ही होती है।

पू – पर भूताकाश का भी तो वायु आदि क्रम से कारणत्व दिखाया गया है।

सि – सत्य ही दिखाया गया है। फिर भी यदि मूल कारण ब्रह्म का ग्रहण नहीं किया जाय, तो 'आकाश से ही' पर जो बल है और 'सभी' इस भूत के विशेषण का सामंजस्य (अनुकूलता) नहीं हो पाएगा।

तथा 'आकाश की ओर जाकर उसमें विलीन हो जाते हैं' यह (वाक्य) भी ब्रह्म का ही लक्षण (बताता) है।

तथा (ब्रह्म की) श्रेष्ठता तथा परायणता 'आकाश निश्चय ही इन सबसे श्रेष्ठ है, आकाश ही अंतिम गति है' इसमें कही गयी है, क्योंकि अनापेक्षिक (absolute) श्रेष्ठता तो केवल परमात्मा के लिए ही कही गयी है 'पृथ्वी से श्रेष्ठ, अन्तरिक्ष (आकाश) से श्रेष्ठ, स्वर्ग से श्रेष्ठ, सभी लोकों से श्रेष्ठ'। तथा परायणता (ultimate goal) भी परम कारण होने से परमात्मा के अर्थ में ज्यादा उपपन्न है। श्रुति है – 'विज्ञानम् आनंदम् ब्रह्म, राति (ब्रह्मज्ञ, जो ब्रह्म में रत है) और दातु (धन का दाता) दोनों की ही परम गति है'।

तथा जैवलि, शालावत्य के पक्ष की, अंतवान (limited) होने के कारण, निंदा कर अनंत को बताने के लिए आकाश का ग्रहण करता है। फिर आकाश की समानता उद्गीथ से बताता है – 'यह उद्गीथ यह आकाश है, और यह सभी श्रेष्ठ वस्तुओं से श्रेष्ठतर है। वह जो ऐसा है, अनंत है।' यह आनंत्य ब्रह्म का (ही) लक्षण है।

यह जो कहा कि प्रसिद्धि के कारण भूताकाश (अर्थ) पहले प्रतीत होता है तो हम यह कहते हैं – यद्यपि पहले प्रतीत होता है, फिर भी वाक्य शेष में आए हुये ब्रह्म के गुणों को देख कर (भूताकाश अर्थ) ग्रहण नहीं किया जा सकता है। 'सचमुच आकाश ही नाम और रूप का निर्वहिता है' आदि के द्वारा ब्रह्म के लिए आकाश शब्द का प्रयोग दिखाया गया। और ब्रह्म के लिए आकाश के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग भी (श्रुति में) दिखाया गया है – 'ऋचाएँ परम व्योम, जो अक्षर है और जिस पर सभी देव अधिष्ठित हैं, को बताती हैं' 'वह ऐसी भार्गवी वारुणी विद्या परम व्योम में प्रतिष्ठित है' 'ॐ कं (आनंद) ब्रह्म है, खं (आकाश) ब्रह्म है' 'खं पुरातन है'।

आकाश शब्द के वाक्य के आरंभ में आने पर भी, वाक्य शेष के कारण (owing to the trend of remaining portion of text), आकाश शब्द की ब्रह्मत्व अवधारणा ही युक्त है। जिस प्रकार 'अग्नि ऋचा को पढ़ता है' इस वाक्य में अग्नि वाक्य के आरंभ में प्रयुक्त है फिर भी इसका अर्थ एक ऋचा को पढ़ रहा तेजस्वी मानव है।

इसलिए, आकाश शब्द (का अर्थ) ब्रह्म है, यह सिद्ध है।

PRANA
1.1.23

1.1.23

अत एव प्राण:

उद्गीथ के प्रकरण में – 'हे प्रस्तोता! अगर प्रस्ताव (स्तुति) के नियंता देवता को जाने बिना तुमने मेरे सामने उसका गान किया तो तुम्हारा मस्तक गिर जाएगा' – इस श्रुति से आरंभ कर सुना जाता है – 'वह देवता कौन है? उसने कहा – प्राण! यह सभी भूत प्राण की ओर जाकर उसी में प्रविष्ट होते हैं तथा फिर उसी से प्रकट होते हैं। यही प्रस्ताव का नियंता देवता है'। यहाँ संशय और निर्णय पहले (के सूत्रों) की तरह ही समझना चाहिए।
शंका – 'सोम्य! प्राण मन से बंधा है' 'प्राण का प्राण' आदि (श्रुति) में प्राण शब्द, ब्रह्म विषयक (ब्रह्म के अर्थ में) दीखता है। लेकिन लोक (भाषा) में तथा वेदों में भी (प्राण) वायुविकार रूप से प्रसिद्ध है। इसलिए यह संशय होता है कि यहाँ प्राण शब्द से कौन सा अर्थ स्वीकार करना युक्त है।

पू – पञ्च वृत्तियों वाला वायुविकार जो प्राण कहा जाता है, वह (अर्थ ही) स्वीकार करना युक्त है क्योंकि यह कहा गया कि प्राण शब्द इसी अर्थ में ज्यादा प्रसिद्ध है।

शंका – नहीं। ब्रह्म (अर्थ) का ग्रहण ही युक्त है क्योंकि पूर्ववत् यहाँ भी उसी के लक्षण (वर्णित) हैं। यहाँ भी वाक्य शेष में (complementary portion of text) भूतों का संवेशन-उद्गमन (entry-emergence) परमेश्वर के कर्म को ही इंगित करता है।

पू – नहीं। मुख्य प्राण के लिए भी भूतों के संवेशन-उद्गमन (के प्रयोग) का दर्शन होता है – 'जब यह पुरुष सुषुप्त होता है, तब वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन प्राण में विलीन हो जाते हैं। जब वह जगता है, तो ये प्राण से ही प्रकट हैं' – यह तो प्रत्यक्ष है कि सुषुप्ति में प्राण की वृत्तियाँ परिलुप्त नहीं होने पर भी इंद्रियवृत्तियाँ परिलुप्त हो जाती हैं और प्रबोधकाल में पुन: प्रादुर्भूत होती हैं। भूतों का सार इंद्रियाँ हैं – 'तस्य ही एष रस:' – इस कारण से मुख्य प्राण में भी भूतों का संवेशन और उद्गमन कहा जाय तो वाक्य शेष का विरोध नहीं होता है।

फिर (एक और कारण है कि प्रकरण में) प्राण के बाद आदित्य और अन्न को क्रमश: उद्गीथ और प्रतिहार का देवता निर्देशित किया गया है। अब आदित्य और अन्न का ब्रह्मत्व तो है नहीं। इसी समानता के कारण प्राण का भी ब्रह्मत्व भी प्राप्त नहीं होता।

इस पर सूत्रकार कहते हैं – अत एव प्राण: – *(इसी कारण से, प्राण (ब्रह्म है)) –*
(यह कारण) "उसके लक्षण उपस्थित हैं" पूर्वसूत्र में निर्दिष्ट है। इसी कारण "उसके लक्षण उपस्थित हैं" से प्राण शब्द से भी परम ब्रह्म ही अर्थ है। 'ये सभी भूत प्राण में ही विलीन होते हैं और प्राण से ही प्रकट होते हैं' इस श्रुति के द्वारा प्राण का

संबंध ब्रह्म लक्षण से सुना जाता है। प्राण से सभी भूतों की उत्पत्ति और प्रलय कहा जाने के कारण यह सिद्ध होता है कि प्राण ब्रह्म है।

पू – क्या यह नहीं कहा गया कि (प्राण का) मुख्य प्राण अर्थ लेने पर भी संवेशन और उद्गमन बाधित नहीं होता है, जो कि (हमारा) सुषुप्ति और जाग्रत का अनुभव भी है?

सि – यहाँ कहते हैं कि सुषुप्ति और प्रबोध में केवल इंद्रियों का ही प्राण में संवेशन और उद्गमन देखा जाता है, समस्त भूतों का नहीं। पर यहाँ तो – सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि – के द्वारा शरीर और इंद्रिय सहित जीवों से आविष्ट (युक्त) भूत (की बात हो रही) है। अगर सभी वस्तुओं को बताती हुई श्रुति का विषय महाभूत (elements) ग्रहण किया जाए, तो भी ब्रह्मलक्षणत्व बाधित नहीं होता है।

पू – क्या 'जब सुप्त (पुरुष) कोई स्वप्न नहीं देखता है और इस प्राण से एक होता है, तब इस प्राण में वाक् सभी नामों के साथ विलीन हो जाती है' इस श्रुति के अनुसार इंद्रियों का विषयों के साथ, सुषुप्ति और प्रबोधकाल में, प्राण में और प्राण से विलय और प्रभव नाही सुना जाता है?

सि – वहाँ भी प्राण से ब्रह्म अर्थ ही है क्योंकि उसके लक्षण उपस्थित हैं।

और तुम्हारा यह कथन अयुक्त है कि आदित्य और अन्न के सन्निधान (समीपता) के कारण प्राण का अब्रह्मत्व (सिद्ध) है। ऐसा इसलिए क्योंकि केवल समीपता का कोई अर्थ नहीं जब कि वाक्य शेष के बल पर प्राण शब्द का ब्रह्म अर्थ निश्चित है।

और तुमने यह जो कहा कि प्राण शब्द का पञ्चवृत्ति (रूप में) प्रयोग ज्यादा प्रसिद्ध है, तो इसका उत्तर आकाश शब्द की तरह ही समझा जाना चाहिए।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रस्ताव का देवता प्राण, ब्रह्म (अर्थ में प्रयुक्त) है।

यहाँ कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि यह सूत्र – 'प्राण का प्राण' और 'सोम्य! मन प्राण से बंधा है' – (इन श्रुतियों) को उदाहृत करता है (अर्थात् प्राण का अर्थ इन श्रुतियों मे क्या है, यह बताता है न कि 'प्रस्ताव का नियंता देवता प्राण' में प्राण का अर्थ बताता है)। ऐसा कहना अयुक्त है। शब्द के भेद के कारण तथा प्रकरण के कारण यहाँ संशय होना अनुपपन्न है (अर्थात् इन श्रुतियों में तो कोई संशय ही नहीं है जिसके लिए सूत्र की कोई आवश्यकता हो)। जिस प्रकार 'पिता का पिता' प्रयोग में यह स्पष्ट है कि दादा जो कि षष्ठी निर्दिष्ट पिता है वह प्रथमा निर्दिष्ट पिता से भिन्न है, उसी प्रकार 'प्राण का प्राण' में शब्द भेद के कारण यह निश्चित होता है कि प्राण शब्द से प्रसिद्ध प्राण नहीं वरन् कोई अन्य प्राण विवक्षित है। (ऐसा इसलिए) क्योंकि एक ही वस्तु – वह उसका है – इस प्रकार स्वयं से ही भिन्न निर्देशित नहीं की जा सकती है। इसके अलावा ऐसा समझना चाहिए कि किसी प्रकरण में जो निर्देशित है, उसी प्रकरण में नाम में अंतर होने पर भी वही (वस्तु) निर्दिष्ट होता

है। उदाहरण के लिए, ज्योतिष्टोम प्रकरण में – 'हर वसंत में ज्योतिष् यज्ञ करना चाहिए' – इस श्रुति में ज्योति शब्द ज्योतिष्टोम विषयक है (अर्थात् ज्योति शब्द का अर्थ ज्योतिष्टोम है)। इसी प्रकार, परब्रह्म के प्रकरण में – 'सोम्य! मन प्राण से बंधा है' – यहाँ प्राण शब्द से मात्र वायुविकार किस प्रकार समझा जा सकता है? इस प्रकार संशय के अविषयत्व (असंभवत्व) के कारण ये उदाहरण युक्त नहीं हैं (अर्थात् प्रस्तुत सूत्र इन दो श्रुतियों के संदर्भ में नहीं है क्योंकि इन श्रुतियों में तो संशय हो ही नहीं सकता)। पर प्रस्ताव के देवता प्राण के विषय में संशय (उत्पन्न होता) है जिसका पूर्वपक्ष और निर्णय बताया गया।

LIGHT
1.1.24 to 1.1.27

1.1.24

ज्योतिश्चरणाभिधानात्

(ज्योति ब्रह्म है क्योंकि चरण का उल्लेख है)

शंका – (छान्दोग्य) उपनिषद् कहता है –'अब वह (ज्योति), जो द्युलोक (स्वर्ग) से परे सर्वश्रेष्ठ उत्तम लोकों में, सभी लोकों के पृष्ठ पर (ऊपर), सभी वस्तुओं के पृष्ठ पर (ऊपर)दीपित हो रही है, वही इस पुरुष के अंतर में स्थित यह ज्योति है' (3.13.7) – यहाँ संशय होता है कि ज्योति शब्द से आदित्य आदि की ज्योति समझना चाहिए या पर आत्मा ?प्राण शब्द के विषय के अर्थ का अंतर होने पर भी (पहले) उसके (ब्रह्म के) लक्षण उपस्थित होने के कारण (प्राण का) ब्रह्मविषयत्व कहा गया (था)। यहाँ (इस सूत्र में) यह विचार करना है कि उसके (ब्रह्म के) ***लक्षण ही*** उपस्थित हैं या नहीं। यहाँ पर क्या निष्कर्ष होना चाहिए ?

पू – ज्योति शब्द से आदित्य आदि की ज्योति ही ग्रहण करना चाहिए।

क्यों ?

(इसी अर्थ की) प्रसिद्धि के कारण। तम और ज्योति, ये दो शब्द परस्पर प्रतिद्वंद्वी प्रसिद्ध हैं। रात्रि का अंधकार जो कि चक्षु की वृत्ति का निरोधक है, तम कहा जाता है। और आदित्य आदि की किरणें जो उसकी (चक्षु की वृत्ति की) सहायता करती हैं, ज्योति कही जाती हैं। तथा (इसके अलावा) 'दीपित होती है' यह श्रुति भी आदित्य आदि के संदर्भ मे प्रसिद्ध है। रूप आदि से हीन ब्रह्म 'दीपित होती है' इस श्रुति के मुख्य अर्थ के लिए योग्य नहीं है। और द्युलोक की मर्यादा (limitation) का श्रुति में उल्लेख होने के कारण भी (ब्रह्म ज्योति शब्द का अर्थ नहीं हो सकता)। चर और अचर के बीज सर्वात्मक ब्रह्म के लिए द्युलोक की मर्यादा का होना युक्त नहीं है; पर वह ज्योति जो (ब्रह्म का) कार्य है, (और इसलिए) परिच्छिन्न (एकदेशी) है, उसके लिए द्युलोक की मर्यादा होना युक्त है। और (इस श्रुति के) ब्राह्मण अंश में कहा भी गया कि 'ज्योति जो द्युलोक से परे (ऊपर) है'।

आक्षेप – पर चूँकि कार्य ज्योति भी सर्वत्र अनुभूत है, इसलिए इसके लिए भी द्युलोक की मर्यादा में असामंजस्य है। इसलिए इस का (ज्योति का) अर्थ प्रथमज (first born) अत्रिवृत्कृत् (unmixed) तेज होना चाहिए।

पू – नहीं। क्योंकि अत्रिवृत्कृत् तेज के प्रयोजन का अभाव है (it serves no purpose)।

आक्षेप – इसका (अत्रिवृत्कृत् तेज का) उपास्यत्व ही इसका प्रयोजन (purpose) है।

पू – नहीं। आदित्य आदि के उपास्यत्व का दर्शन तभी होता है जब वे किसी अन्य प्रयोजन में भी प्रयुक्त हों। और श्रुति भी – 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतं एकैकां करवाणि'– यहाँ किसी एक भूत विशेष की बात नहीं करती है (वरन् सभी भूतों की बात की गयी है)। और फिर अत्रिवृत्कृत् तेज के लिए द्युलोक मर्यादा है, ऐसी कोई प्रसिद्धि भी नहीं है। इसलिए, ज्योति शब्द से त्रिवृत्कृत् (स्थूल) तेज ही अर्थ लिया जाये।

आक्षेप – क्या यह नहीं कहा गया कि (त्रिवृत्कृत्) अग्नि की ज्योति आदि (कार्य ज्योति) द्युलोक के नीचे भी अनुभूत है?

पू – यह कोई दोष नहीं। (स्थूल) ज्योति सर्वत्र गम्यमान् होने पर भी –'द्युलोक से परे'– इस प्रकार उपासना के अर्थ में प्रदेश विशेष में ग्रहण की जाये, तो कोई विरोधाभास नहीं। परंतु निष्प्रदेश ब्रह्म के लिए प्रदेशविशेष की कल्पना की जाये, तो यह युक्त नहीं होगा।

इसके अलावा चूँकि –'सभी वस्तुओं के ऊपर,सर्वश्रेष्ठ उत्तम लोकों में'– इस श्रुति में (ज्योति के) आधार की बहुलता (many places of residence) का उल्लेख है, इसलिए (ज्योति का अर्थ) कार्य ज्योति उपपन्न है।

इसके अलावा –'वही (ज्योति) इस पुरुष के अंतर में स्थित यह ज्योति है'– इस श्रुति में पुरुष की कुक्षि (उदर) में स्थित ज्योति में परम ज्योति का अध्यास दर्शित है। अब अध्यास तो सारूप्य होने पर ही होता है –'उसका (आदित्यस्थ पुरुष का) शिर भू: है, क्योंकि शिर एक होता है और भू: भी एक ही अक्षर है'– इस श्रुति के अनुसार। और कुक्षि स्थित ज्योति का अब्रह्मत्व प्रसिद्ध है। ऐसा इसलिए क्योंकि –'तस्य एषा दृष्टि: तस्य एषा श्रुति:'– इस श्रुति के अनुसार (कुक्षि स्थित ज्योति में) उष्णता और घोष का श्रवण है।

इसके अलावा –'यह ऐसा (entity), दृष्ट और श्रुत (seen and heard) है, ऐसे उपासना करनी चाहिए'– यह श्रुति भी है। अब यह अब्रह्म है क्योंकि (इस उपासना का) फल इस श्रुति के अनुसार –'वह जो इस प्रकार उपासना करता है, वह चक्षुष्य और श्रुत (cynosure and famous) हो जाता है'– अल्प है जबकि ब्रह्म उपासना का फल महान वाञ्छित है।

इसके अलावा, प्राण और आकाश की तरह ब्रह्म के अन्य किसी लक्षणों का भी उल्लेख स्ववाक्य (ज्योति वाक्य) में नहीं है कि ज्योति को ब्रह्म समझा जाये।

(यहाँ तक कि) पिछले वाक्य –'गायत्री ही यह सभी भूत है' (3.12.1) – में भी ब्रह्म निर्दिष्ट नहीं है क्योंकि यहाँ छंद (गायत्री) का निर्देश है। अगर किसी प्रकार मान भी लिया जाये कि पिछले वाक्य में ब्रह्म निर्दिष्ट है तो भी यहाँ (ज्योतिष् वाक्य में) उसी की (ब्रह्म की) प्रत्यभिज्ञा नहीं है। ऐसा इसलिए क्योंकि वहाँ तो (3.12.1-6) –'उसके तीन अमृत पैर स्वर्ग में हैं'– स्वर्ग अधिकरण (residence) के रूप में प्रस्तुत है और यहाँ (ज्योतिष् वाक्य में) स्वर्ग मर्यादा (limitation) के रूप में प्रस्तुत है –'स्वर्गलोक से परे ज्योति'। इसलिए यहाँ प्राकृत ज्योति (gross light) अर्थ ही ग्राह्य है।

सि – यहाँ कहते हैं, ज्योति से ब्रह्म ग्राह्य है।

क्यों?

चरण के उल्लेख के कारण जो कि पैर के संदर्भ मे उल्लिखित है (न कि आचरण के अर्थ में)। ऐसा इसलिए क्योंकि पिछले वाक्य में (3.12.6) (अग्रांकित मंत्र द्वारा) ब्रह्म चतुष्पाद रूप में निर्दिष्ट है –'उतनी ही (यह सृष्टि) उसकी महिमा है, परंतु पुरुष उससे श्रेष्ठ है। सभी भूत उसके (ब्रह्म के) एक पैर हैं। उसके तीन अमृत पैर स्वर्ग में हैं'– वहाँ जो चतुष्पाद ब्रह्म के तीन अमृत पाद स्वर्गलोक से सम्बद्ध रूप में निर्दिष्ट हैं, वही यहाँ (ज्योतिष् मंत्र में) द्युसम्बद्ध रूप से निर्दिष्ट है, यह प्रत्यभिज्ञा है। इसे त्याग कर अगर प्राकृत ज्योति की कल्पना की जाए तो प्रकृत की हानि और अप्रकृत की कल्पना का दोष होगा। न केवल पूर्ववाक्य से ही ब्रह्म के प्रकरण की ज्योति वाक्य में अनुवृत्ति (प्राप्ति-संबंध) होती है बल्कि इससे (ज्योति वाक्य से) आगे वर्णित शांडिल्य विद्या में भी ब्रह्म की ही अनुवृत्ति होती है। इसलिए, ज्योति शब्द से ब्रह्म समझना चाहिए।

तुमने यह जो कहा कि –'ज्योति दीपित होती है'– यहाँ 'ज्योति'और 'दीप्यते'शब्द कार्य ज्योति के अर्थ में प्रसिद्ध हैं, तो यहाँ कहते हैं – यह कोई दोष नहीं। एक बार जब हम प्रकरण की सहायता से ब्रह्म को समझते हैं तो ये दो शब्द अविशेषक रूप से प्रयुक्त होने के कारण (without specifically excluding Brahman) सांकेतिक रूप से दीप्यमान् कार्य ज्योति के द्वारा ब्रह्म को लक्षित कर सकते हैं। मंत्र में वर्णन भी है –'जिसके तेज से इद्ध (प्रकाशित होकर) सूर्य तपता है'।

या फिर यह भी कहा जा सकता है कि यहाँ ज्योति शब्द से चक्षु की वृत्ति का अनुग्राहक तेज विवक्षित नहीं है। ऐसा इसलिए क्योंकि इसका (ज्योति का) अन्य अर्थों में भी प्रयोग दृष्ट है –'वाक् की ज्योति से बैठता है''घी पीने वालों का मन ज्योति हो जाता है' – इस प्रकार। जो किसी अन्य का अवभासक है, वह ज्योति शब्द से कहा जाता है। इसलिए चैतन्यरूप ब्रह्म के लिए ज्योति शब्द उपपन्न है क्योंकि यह समस्त जगत् के अवभास का हेतु है। इसके लिए श्रुति में कहा भी है –'वह प्रकाशित है तो सभी प्रकाशित होते हैं। उसके तेज से ये सभी प्रकाशित होते हैं''उस (ब्रह्म) की ही ज्योतियों की अमृत ज्योति रूप से और आयु (longevity) रूप से देव उपासना करते हैं'।

यह जो कहा था कि सर्वगत ब्रह्म के लिए द्युलोक की मर्यादा उपपन्न नहीं है, तो इसपर कहते हैं कि सर्वगत होने पर भी उपासना के लिए ब्रह्म का प्रदेश विशेष में परिग्रह विरुद्ध नहीं है।

पू – क्या यह नहीं कहा गया कि निष्प्रदेश (यहाँ निरवयव के अर्थ में) ब्रह्म के लिए प्रदेशविशेष की कल्पना उपपन्न नहीं है?

सि – यह कोई दोष नहीं। निष्प्रदेश ब्रह्म की भी उपाधि विशेष से संबंध के कारण प्रदेश विशेष की कल्पना उपपन्न है। इस प्रकार प्रदेश विशेष संबंधी ब्रह्म की उपासनायें 'आदित्य में''चक्षु में''हृदय में' सुनी जाती हैं। इस प्रकार – 'विश्व के पृष्ठ पर'– इस आधार के बहुत्व का कथन उपपादित (सिद्ध) हुआ।

यह जो कहा कि स्वर्ग से परे ज्योति कार्य (ज्योति) है क्योंकि वह उष्णता और घोष से अनुमित (ज्ञात) कुक्षिस्थ कार्य ज्योति में अध्यस्त है, तो यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि पर ब्रह्म को (के लिए) नामादि प्रतीकत्व के समान कुक्षिस्थ ज्योतिष्प्रतीकत्व बन सकता है। और –'दृष्ट और श्रुत रूप में उपासीत'– इस श्रुति में विहित दृष्टत्व और श्रुतत्व प्रतीकत्व के द्वारा ही होगा।

यह जो कहा था कि अल्प फल श्रवण के कारण (ज्योति) ब्रह्म नहीं है तो यह कहना अनुपपन्न है। ऐसा इसलिए क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि ब्रह्म का आश्रय किसी विशेष फल के लिए है और अन्य फलों के लिए नहीं। जहाँ सर्वविशेषसंबंधरहित ब्रह्म आत्मरूप से उपदेशित रहता है, वहाँ एक फल मोक्ष ही अवगत (अनुभूत) होता है। पर जहाँ गुणविशेषसंबंधयुक्त या प्रतीकविशेषसंबंधयुक्त ब्रह्म उपदेशित रहता है, वहाँ संसार गोचर अनेक उच्च-निम्न फल देखे जाते हैं –'(ईश्वर) अन्न को खाने वाला, धन को देने वाला है। जो इसे ऐसे जानता है, वह धन प्राप्त करता है'– ऐसी श्रुति भी है।

यद्यपि ज्योति के स्ववाक्य में (3.13.7) कोई भी ब्रह्म लक्षण नहीं है, फिर भी पूर्ववाक्य में दृष्ट ब्रह्मलक्षण (यहाँ भी) ग्रहीतव्य है। इसी कारण से सूत्रकार कहते हैं –'ज्योतिश्चरणाभिधानात्'।

पू – ज्योति संबंधी श्रुति (3.13.7) को अपने विषय से च्युत कर किसी अन्य (संदर्भ) में, सिर्फ इस कारण से कि ब्रह्म समीप के वाक्य में उद्धृत है, किस प्रकार प्रयुक्त कर सकते हैं?

सि – यह कोई दोष नहीं। 'यदत: परो दिवो ज्योति:' इस श्रुति में सबसे पहले पठित सर्वनाम 'यत्' शब्द से स्वसामर्थ्य द्वारा पूर्व वाक्य में निर्दिष्ट ब्रह्म के परामृष्ट (स्मृत) होने पर, और दिव (स्वर्ग) के साथ संबंध प्रत्यभिज्ञ होने पर ज्योति शब्द का ब्रह्मविषयत्व (अर्थात् ज्योति शब्द का अर्थ ब्रह्म है) उपपन्न है। इसलिए यहाँ ज्योति शब्द से ब्रह्म समझना चाहिए।

1.1.25

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम्

(अगर यह कहा जाय कि (पूर्ववाक्य में भी) ब्रह्म नहीं कहा गया है क्योंकि छन्द का कथन है, तो हम कहते हैं – नहीं; क्योंकि (गायत्री छन्द के द्वारा ब्रह्म में) चित्त का अर्पण कहा गया है; क्योंकि इस प्रकार के उदाहरण अन्यत्र देखे गए हैं)

पू – यह कहा गया था कि पूर्व वाक्य –'ये सभी भूत, ये जो कुछ भी है, गायत्री ही है'– में भी गायत्री नामक छन्द के कथन के कारण, ब्रह्म का कथन नहीं है।

सि – इस शंका का निवारण करना है। पर (यह बताएं कि) जब –'इतनी (सृष्टि) ही इसकी महिमा है' (3.12.6) – श्रुति के द्वारा चतुष्पाद् ब्रह्म दर्शित है तो बस छन्द के कथन के कारण ब्रह्म नहीं कहा गया है, ऐसा किस प्रकार कहा जा सकता है।

पू – ऐसा नहीं। 'गायत्री व इदं सर्वम्' से गायत्री का आरंभ कर फिर उसी का पृथ्वी, शरीर, हृदय, वाक् और प्राण के भेद रूप से व्याख्या कर उसी के (गायत्री के) विषय में कहा गया है –'सैषा गायत्री चतुष्पदा षड्विधा गायत्री'। एवम् 'तावानस्य महिमा' यह ऋचा भी व्याख्यात रूप वाली गायत्री को ही उदाहृत करती है। फिर अकस्मात् चतुष्पाद् ब्रह्म को मंत्र कैसे कह सकता है। और वहाँ जो –'यद्वै तद् ब्रह्म' (3.12.7) – में ब्रह्म शब्द है, वह भी छन्द का प्रकरण होने से छन्द विषयक है (अर्थात् ब्रह्म का अर्थ छन्द है)। 'जो इस ब्रह्म उपनिषद् को जानते हैं' (3.11.3) – यहाँ (ब्रह्म उपनिषद् की) वेद उपनिषद् व्याख्या करते हैं। इससे पता चलता है कि (गायत्री रूप) वेद भी ब्रह्म शब्द का अर्थ है। इसलिए क्या यह नहीं कहा जा सकता है कि शब्द (गायत्री छन्द) के कथन के कारण ब्रह्म का प्रकरण नहीं है?

सि – यह कोई दोष नहीं क्योंकि छन्द के द्वारा (ब्रह्म में) चित्त का अर्पण उपदिष्ट है। गायत्री नामक शब्द (छन्द) के द्वारा उसमें अनुगत (inherent) ब्रह्म में चित्त का समाधान रूप अर्पण ब्राह्मण के इस वाक्य –'गायत्री वा इदं सर्वम्' के द्वारा उपदिष्ट है। अब अक्षरों के संयोग मात्र गायत्री का सर्वात्मक होना तो संभव नहीं है। **इसलिए 'यह सब' में जगत्कारण ब्रह्म ही, जो गायत्री नामक अपने विकार (effect) में अनुगत (inherent)है, 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' की तरह कहा गया है**। आगे सूत्र 2.1.14 में यह कहा जाएगा कि कार्य कारण से अभिन्न होता है। अन्यत्र भी विकार के द्वारा (कार्य के द्वारा) ब्रह्म की उपासना दिखती है –'ऋक्वेदी महान् उक्थ (शस्त्र) में, यजुर्वेदी अग्नि में तथा सामवेदी महाव्रत (क्रतु) में इसी (ब्रह्म) की उपासना करते हैं'। इसलिए पूर्व वाक्य में छन्द का कथन होने पर भी चतुष्पाद् ब्रह्म ही निर्दिष्ट है। और वही ब्रह्म ज्योति-वाक्य में भी अलग (fresh/new) उपासना के विधान के लिए परामृष्ट (स्मृत) होता है।
यहाँ कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि संख्या की समानता के द्वारा गायत्री शब्द के द्वारा साक्षात् (directly) ब्रह्म प्रतिपादित है। जैसे षड् अक्षर वाले पादों से गायत्री चतुष्पदा होती है, वैसे ही ब्रह्म चतुष्पाद है। अन्यत्र भी छन्दवाचक शब्द संख्या कि समानता के कारण अन्य अर्थ में प्रयुक्त देखे जाते हैं। जैसे कि –'ये जो एक अर्थ में पाँच हैं (अग्नि, वायु आदि) और अन्य अर्थ में पाँच हैं (वाक्, चक्षु आदि), ये मिल कर दस होते हैं और कृत (पाँसा) बनते हैं'– इस श्रुति से आरंभ करने के बाद –'यही (कृत) विराट (छन्द) है जो अन्न को खाता है'– यह श्रुति है।

इस पक्ष (दृष्टिकोण) में भी छन्द (गायत्री) नहीं वरन् ब्रह्म ही (गायत्री पद से) कहा गया है। इस प्रकार, दोनों ही दृष्टिकोण से पूर्ववाक्य में ब्रह्म का ही प्रकृत है।

1.1.26

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्

(और ऐसा होना ही चाहिए, क्योंकि तभी सभी भूतों का एक पाद में होना उपपन्न होगा)

ऐसा (कि पूर्ववाक्य में छन्द का कथन होने पर भी ब्रह्म ही प्रकृत है) एक और कारण से भी मानना होगा – चूँकि (पूर्ववाक्य में) सभी भूतों का पाद के रूप में उल्लेख है इसलिए ब्रह्म ही पूर्ववाक्य का प्रकृत है। भूत, पृथ्वी, शरीर, हृदय का निर्देश करने के बाद –'वह यह चतुष्पदा षड्विधा गायत्री है'– यह कहा गया। ब्रह्म के अनाश्रित केवल छन्द का भूत आदि पाद होना उपपन्न नहीं है। तथा ब्रह्म से अनाश्रित होने पर –'इतनी ही उसकी महिमा है'– यह ऋक् मंत्र (छां 3.13.7) भी

उपपन्न नहीं होगा। 'सभी भूत इसके एक पाद हैं, इसके तीन अमृत पैर द्युलोक में हैं' – चूँकि केवल ब्रह्म अर्थ लेने पर इस श्रुति में वर्णित सर्वात्मत्व उपपन्न है, इसलिए 'इतनी ही उसकी महिमा है' इस मंत्र में ब्रह्म मुख्य अर्थ में विषय है।

पुरुष सूक्त में भी यह ऋक् मंत्र (तावानस्य महिमा) पर ब्रह्म को प्रस्तुत करने के लिए आता है। स्मृति भी ब्रह्म का ऐसा रूप दिखाती है (गीता 10.42)। इसके अलावा –'यद्वै तद् ब्रह्म' में (ब्रह्म का) निर्देश मुख्य अर्थ में तभी संभव है, जब यह अर्थ लिया जाये।

इसके अलावा –'वे ऐसे पाँच ब्रह्म के पुरुष'– इस श्रुति में वर्णित हृदय के पाँच छिद्ररूपी ब्रह्म पुरुष का कथन तभी संगत होगा जब ब्रह्म से संबंध विवक्षित हो। इसलिए पूर्ववाक्य में ब्रह्म का (ही) प्रकृत है। इसलिए यह निर्णय होता है कि वही (पूर्ववाक्य में निर्दिष्ट ब्रह्म) ज्योति वाक्य में स्वर्गलोक से संबंधरूपी प्रत्यभिज्ञा से स्मृत होता है।

1.1.27

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्

(अगर यह कहा जाये कि (पूर्ववाक्य में निर्दिष्ट) ब्रह्म यहाँ (ज्योतिवाक्य में) विवक्षित नहीं है क्योंकि उपदेश का भेद है; तो हम कहते हैं; नहीं, क्योंकि दोनों ही स्थितियों में कोई विरोधाभास नहीं है)

पू – यह जो पहले कहा था कि – 'इसके तीन अमृत पैर स्वर्ग में हैं' – इस श्रुति में स्वर्ग सप्तमी विभक्ति में आधार के रूप में उपदिष्ट है और यहाँ (ज्योति वाक्य में) – 'अब यह जो ज्योति स्वर्ग से परे है' – इस श्रुति में स्वर्ग पंचमी विभक्ति में मर्यादा के रूप में प्रयुक्त है, जिस कारण से उपदेश के भेद से यहाँ प्रत्यभिज्ञा नहीं है, तो उस (संशय) का निवारण करना (शेष) है।

सि – यह कोई दोष नहीं। क्योंकि दोनों ही स्थितियों में कोई विरोध नहीं। सप्तमी विभक्ति के द्वारा या पंचमी विभक्ति के द्वारा दिये गए उपदेश में प्रत्यभिज्ञा में विरोध नहीं है। जैसे लोक में वृक्षाग्र से सम्बद्ध श्येन पक्षी – 'वृक्षाग्र पर श्येन' और 'वृक्षाग्र से परे श्येन' – इन दोनों प्रकार से कहा जाता है; उसी प्रकार स्वर्ग में ही रहता हुआ ब्रह्म, स्वर्ग से परे उपदिष्ट होता है।

अन्य लोग कहते हैं – वृक्षाग्र से असम्बद्ध (ऊपर उड़ता हुआ) श्येन भी दोनों प्रकार से उपदिष्ट देखा जाता है – 'वृक्षाग्र पर श्येन' और 'वृक्षाग्र से परे श्येन'। इसी प्रकार ब्रह्म स्वर्ग से परे होते हुये भी स्वर्ग में उपदिष्ट होता है।

इस प्रकार, पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्म की यहाँ (ज्योति वाक्य में) भी प्रत्यभिज्ञा है। अत: ज्योति शब्द का अर्थ परम ब्रह्म ही है, यह सिद्ध हुआ।

PRATARDAN
1.1.28 to 1.1.31

1.1.28

प्राणस्तथाऽनुगमात्

(प्राण ब्रह्म है क्योंकि यह इस प्रकार समझा जाता है)

शंका – कौषीतकी ब्राह्मण उपनिषद् में इन्द्र और प्रतर्दन की आख्यायिका इस प्रकार आरंभ होती है – 'प्रसिद्ध दैवोदास (दिवोदास का पुत्र) युद्ध और पौरुष के द्वारा इन्द्र के प्रिय धाम को गया'। वहाँ यह सुना जाता है – 'उसने कहा – मैं (इन्द्र) प्रज्ञात्मा प्राण हूँ। तुम मेरी आयु (longevity) और अमृत की तरह उपासना करो'। और उसके बाद में भी – 'अब यह प्रज्ञात्मा प्राण स्वयं है जो शरीर का ग्रहण करता है (takes hold) और उसे (शयन आदि से) उठाता है' – यह श्रुति है। और – 'वाक् की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए, वक्ता को जानना चाहिए' – यह श्रुति है। अंत में – 'वह ऐसा प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनंद, अजर, अमृत है' – इत्यादि (श्रुति) है। वहाँ संशय होता है – क्या यहाँ प्राण शब्द के द्वारा वायु मात्र समझना चाहिए या देवता आत्मा (divine soul) या जीव या पर ब्रह्म समझना चाहिए?

आक्षेप – क्या 'अत एव प्राण:' सूत्र में यह नहीं दिखाया गया कि प्राण शब्द पर ब्रह्म के अर्थ में वर्णित है; यहाँ (प्रस्तुत सूत्र में) भी ब्रह्म का लक्षण है – आनंद, अजर, अमृत आदि; तो फिर यहाँ संशय कैसे संभव है?

शंकाकार – यहाँ कहते हैं कि अनेक लक्षण (के) दर्शन के कारण (संशय) है। केवल ब्रह्म के ही लक्षण यहाँ उपस्थित नहीं। अन्य (वस्तुओं) के लक्षण भी हैं – 'केवल मुझे ही जानो' ऐसा इन्द्र का वचन देवता आत्मा का लक्षण है। 'इस शरीर का परिग्रहण कर इसे उठाता है' यह प्राण का लक्षण है। 'वाक् की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए, वक्ता को जानना चाहिए' इत्यादि जीव का लक्षण है। इसलिए संशय उपपन्न है।

पू – वहाँ प्राण (का अर्थ) प्रसिद्ध वायु है।

सि – (ऐसी स्थिति में) यह कहा जाता है – प्राण शब्द से ब्रह्म समझना है।

क्यों?

क्योंकि यह इसी प्रकार समझा जाता है। और कहते हैं कि वाक्य को पूर्वापर सहित (the preceding and succeeding text) समझने-विचारने पर (वाक्य के) पद अर्थों का समन्वय ब्रह्म प्रतिपादनपरक ही उपलब्ध होता है। आरंभ को देखें तो इन्द्र के द्वारा 'वर मांगो' ऐसा कहने पर प्रतर्दन ने परम पुरुषार्थ को कहा – 'आप ही मेरे लिए वह वर चुनें जो आप मनुष्यों के लिए हिततम (most beneficial) मानते हों'। (अब) जब प्राण हिततम के रूप में उसे (प्रतर्दन को) उपदिष्ट है तो यह (प्राण) परमात्मा कैसे नहीं होगा? परमात्म विज्ञान के बिना हिततम की प्राप्ति अन्यत्र नहीं हो सकती – 'उसको (ब्रह्म को) जानने से ही मृत्यु से परे होते हैं, और दूसरा कोई पंथ नहीं' – ऐसी श्रुति भी है। तथा यह श्रुति – 'मुझे जानने से प्राप्त लोक

(मोक्ष) किसी भी कर्म से क्षत नहीं होता – न चोरी से, न भ्रूणहत्या से' – तभी युक्त है जब ब्रह्म अर्थ ग्रहण किया जाए। ब्रह्म विज्ञान के द्वारा ही सर्वकर्मक्षय प्रसिद्ध है – 'उस परावर (पर + अवर = कारण दृष्ट्यात्मक ब्रह्म + कार्य दृष्ट्यात्मक ब्रह्म) को देखने पर सारे कर्मों का क्षय हो जाता है, सभी संशय नष्ट हो जाते हैं तथा हृदय ग्रंथि का भेदन हो जाता है' – इत्यादि श्रुति भी है। (प्राण का) प्रज्ञात्मत्व भी ब्रह्मपक्ष से ही (प्राण के ब्रह्म अर्थक होने पर ही) उपपन्न है। अचेतन वायु का (तो) प्रज्ञात्मत्व संभव नहीं है। तथा उपसंहार में भी – 'आनंद, अजर, अमृत' – आनंदत्व आदि ब्रह्म से अन्यत्र समयक् रूप से संभव नहीं है। और – 'वह साधु कर्मों से श्रेष्ठ नहीं होता, असाधु कर्मों से हीं नहीं होता। वह उनसे साधु कर्म करवाता है जिनहे लोक से ऊपर उठाना चाहता है और वह उनसे असाधु कर्म करवाता है जिनहे वह लोक से नीचे गिराना चाहता है' – यह श्रुति भी है। ये सब (श्रुतियाँ) पर ब्रह्म के आश्रीयमान (resorted) होने पर ही समझी जा सकती हैं, न कि मुख्य प्राण के। इसलिए (आख्यायिका में उल्लिखित) प्राण ब्रह्म है।

1.1.29

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबंधभूमा ह्यस्मिन्

(अगर ऐसा कहा जाय कि प्राण ब्रह्म नहीं है क्योंकि वक्ता के आत्मा के विषय में उपदेश है, तो हम कहते हैं; नहीं;क्योंकि यहाँ अध्यात्म संबंध की प्रचुरता है)

पू – यह जो कहा कि प्राण ब्रह्म है, तो उसका आक्षेप करते हैं – प्राण शब्द का अर्थ पर ब्रह्म नहीं है।

क्यों?

क्योंकि वक्ता के आत्मा का उपदेश है। वक्ता कोई विग्रहवान् (embodied) इन्द्र नाम का देवता विशेष है जो प्रतर्दन को अपनी आत्मा के बारे में प्रथम पुरुष में – 'मुझे ही जानो' – से आरंभ कर – 'मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ' – ऐसा कहता है। यह प्राण जो कि वक्ता की आत्मा के रूप में उपदिष्ट है, किस प्रकार ब्रह्म हो सकता है? ब्रह्म का वक्तृत्व संभव नहीं – 'बिना मन और वाक् के' – आदि श्रुतियों के अनुसार। तथा इंद्र शरीर-संबंधी धर्मों के द्वारा, जो कि ब्रह्म में असंभव हैं, अपनी प्रशंसा करता है – 'मैंने तीन शिरों वाले त्वष्टा के पुत्र को मार डाला; सत् शास्त्र के अध्ययन से रहित यतियों को मार्कर जंगली कुत्तों को दे दिया' – आदि श्रुतियों के अनुसार। इन्द्र का प्राणत्व बलत्व के कारण उपपन्न है – 'प्राण ही बल है' – ऐसा जाना जाता है। बल का देवता इन्द्र प्रसिद्ध है। ऐसा सभी कहते हैं कि जो कुछ भी बल प्रकृति है, वह इन्द्र का ही कर्म है। देवता आत्मा के लिए अप्रतिहत ज्ञान के कारण प्रज्ञात्मत्व भी संभव है। यह कहते हैं कि देवता आत्मा को अप्रतिहत ज्ञान होता है। एक बार जब यह निश्चित हो गया कि उपदेश देवता आत्मा का है तो हिततमत्व आदि वचन यथासंभव उसी विषय को विवक्षित करते हुये व्याख्यायित करने चाहिए।

सि – इस प्रकार इन्द्र की आत्मा के उपदेश के कारण प्राण ब्रह्म नहीं है, ऐसा आक्षेप किए जाने पर इसका समाधान किया जाता है – 'यहाँ अध्यात्म संबंध की बहुलता है'। इस अध्याय में अध्यात्म संबंध अर्थात् प्रत्यगात्मा संबंध (abundance of reference to inmost Self) की अत्यंत बहुलता प्राप्त होती है।'जब तक इस शरीर में प्राण रहता है, तब तक आयु रहती है' – यह (श्रुति) प्रज्ञात्मा, प्रत्यग्भूत प्राण का आयु प्रदान और उपसंहार में स्वतंत्रता दर्शाती है और किसी बाह्य देवता

विशेष की स्वतन्त्रता (श्रुति) नहीं दर्शाती है। तथा – 'प्रज्ञात्मा प्राण ही शरीर का ग्रहण कर उसे उठाता है' – यह (श्रुति) है। 'वाक् की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए, वक्ता को जानना चाहिए' – इस से आरंभ कर – 'लोक में जैसे रथ के आरों में नेमी अर्पित (प्रोत) स्थित रहती है और नाभी में आरा अर्पित रहते हैं, इसी प्रकार भूत मात्रा (पाँचों भूत और उनके आश्रित पाँचों शब्द आदि विषय) प्रज्ञामात्रा (इंद्रियाँ) में अर्पित हैं और प्रज्ञामात्रा प्राण में अर्पित है' 'वह ऐसा प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनंद, अजर, अमृत है' – इस प्रकार (श्रुति) विषय-इंद्रिय-व्यवहार से अनभिभूत (unaffected) प्रत्यगात्मा का उपसंहार करती है। और – 'वह (प्राण) मेरा आत्मा है ऐसा जानना चाहिए' – यह उपसंहार तभी साधु (justifiable) है जब प्रत्यगात्मा अर्थ ग्रहण किया जाये, न कि तब जब कोई बाह्य वस्तु ग्रहण की जाये। 'यह आत्मा, जो सब कुछ का अनुभव करता है, ब्रह्म है' – ऐसा अन्य श्रुति में है। इस लिए, अध्यात्म संबंध के बाहुल्य से (प्राण के द्वारा) ब्रह्म का ही उपदेश है, न कि किसी देवता आत्मा का।

फिर क्यों वक्ता की आत्मा का उपदेश है?

1.1.30

शास्त्रदृष्टया तूपदेशो वामदेववत्

(लेकिन उपदेश तो वामदेव की तरह आर्ष दृष्टि, जो शास्त्र दृष्टि अनुरूप है, से निःसृत है)

इन्द्र नामक देवता ने, जिसने – 'मैं ही पर ब्रह्म हूँ' – ऐसे आर्ष दर्शन के द्वारा शास्त्रानुसार अपनी आत्मा को परम आत्मा देखा था, 'मुझे ही जानो' ऐसा उपदेश किया था; जैसे कि – 'ऋषि वामदेव ने इसे (आत्मा को) वह (ब्रह्म) देख कर जाना "मैं मनु, सूर्य था"' – क्योंकि श्रुति कहती है – 'जिस जिस भी देवता ने इसे जाना, वह (देवता) वह (ब्रह्म) हो गया'।

यह जो कहा कि – 'मुझे ही जानो' – ऐसा कहकर इन्द्र शरीर धर्मों के द्वारा, त्वाष्ट्र वाढ आदि के द्वारा, अपनी आत्मा की प्रशंसा करता है – इसका परिहार करना है। यहाँ कहा जाता है – त्वाष्ट्र वध आदि विज्ञेय इंद्र की स्तुति के हेतु से उपन्यस्त (presented) नहीं है कि 'चूँकि मैंने इन (महान्) कर्मों को किया है, इसीलिए तुम मुझे जानो'।

तो फिर क्यों कहा है?

(ब्रह्म के) विज्ञान की स्तुति के लिए कहा है। इसी कारण से त्वाष्ट्र वध आदि साहसी कर्मों का उपन्यास कर इन्हें विज्ञान की स्तुति से जोड़ा गया है – 'इन (महान्) कार्यों को करते समय मेरा एक लोम भी क्षत नहीं हुआ; जो मुझे जानता है, उसके किसी भी प्रकार के कर्म से लोक (मोक्ष) का क्षय नहीं होता है' –इत्यादि श्रुति (के द्वारा)। यहाँ यह कहा गया है – 'चूँकि मैं ब्रह्मभूत हूँ, इसलिए इतने क्रूर कर्मों को करने पर भी मेरा एक लोम भी हिंसित नहीं हुआ; अन्य कोई भी जो मुझे जानता है, उसके किसी भी कर्म से लोक (मोक्ष) हिंसित नहीं होता है।

(ज्ञान की स्तुति होते हुये भी वस्तुत:) विज्ञेय (तो) ब्रह्म है जो – 'मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ' – इस श्रुति में कहा गया है। इस प्रकार यह ब्रह्म वाक्य है।

1.1.31

जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रित्वादिह तद्योगात्

(यदि यह कहा जाये कि जीव और मुख्य प्राण के लक्षणों के कारण ब्रह्म नहीं कहा गया है, तो ऐसा नहीं हो सकता,क्योंकि यह त्रिविध उपासना हो जाएगी। (इसके अलावा, प्राण) (अन्यत्र) ब्रह्म अर्थ में (ब्रह्म लक्षणों की उपस्थिति के कारण) स्वीकृत है, (और वे लक्षण) यहाँ उपस्थित हैं)

पू – यद्यपि अध्यात्म संबंध की बहुलता के दर्शन से (frequency of reference to inmost Self) (यह पता चलता है कि) बाह्य देवता आत्मा का उपदेश नहीं है, फिर भी यह ब्रह्म वाक्य नहीं है।

क्यों?

क्योंकि जीव के लक्षण और मुख्य प्राण के लक्षण भी हैं। जीव का लक्षण इस वाक्य में स्पष्ट प्राप्त होता है – 'वाक् की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए, वक्ता को जानना चाहिए' – इत्यादि। यहाँ वाक् आदि करण के उपयोग में संलग्न, कार्यकरण के अध्यक्ष, जीव का विज्ञेयत्व प्राप्त होता है। और मुख्य प्राण का भी लक्षण है – 'अब यह प्रज्ञात्मा प्राण स्वयं है जो शरीर का ग्रहण करता है और उसे (शयन आदि से) उठाता है'। शरीर धारण मुख्य प्राण का धर्म है। प्राण के संवाद (anecdote) में वाक् आदि अन्य प्राणों के विषय में सुना जाता है – 'वरिष्ठ प्राण ने उनसे कहा "मोह को प्राप्त मत होओ। मैं ही अपनी आत्मा को पंचधा विभक्त कर इस शरीर को आश्रयण (ग्रहण) कर धारण करता हूँ"'। जो कोई 'इमं शरीरम् परिगृह्य' ऐसा पढ़ते हैं, उनके मत में इस जीव को या इस इंद्रियसमूह को ग्रहण कर शरीर को उठाता हूँ, ऐसी व्याख्या होगी। चेतन होने के कारण जीव के लिए प्रज्ञात्मत्व उपपन्न है। मुख्य प्राण के लिए भी (प्रज्ञात्मत्व) उपपन्न है क्योंकि यह प्रज्ञा-साधन अन्य प्राणों (इंद्रियों) का आश्रय है। जीव और मुख्य प्राण दोनों के ग्रहण करने पर प्रज्ञात्मा और प्राण की सहवृत्तिता (co-existence) से अभेद का कथन भी युक्त होता है, और स्वरूप से भेद का कथन भी युक्त होता है – 'जो प्राण है वह प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वह प्राण है' 'ये दोनों साथ ही शरीर में रहते हैं और साथ ही जाते हैं' – ऐसी श्रुति भी है। अगर (प्राण का अर्थ) ब्रह्म माना जाये, तो किसका दूसरे से भेद होगा? इसलिए जीव या मुख्य प्राण या फिर दोनों ही (प्राण के) अर्थ हो सकते हैं, पर ब्रह्म (अर्थ) नहीं हो सकता।

सि – ऐसा नहीं; त्रिविधा उपासना के कारण। इस प्रकार मानने पर जीवोपासना, मुख्य प्राणोपासना और ब्रह्मोपासना, त्रिविधा उपासना की प्राप्ति होगी। पर एक ही वाक्य में त्रैविध्य अयुक्त है क्योंकि उपक्रम और उपसंहार के द्वारा (प्राण) वाक्य के एकवाक्यत्व (unity of idea) का बोध होता है। 'मुझे ही जानो' से उपक्रम कर – 'मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ। तुम मेरी आयु और अमृत की तरह उपासना करो' – ऐसा कह कर अंत में – 'वह ऐसा प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनंद, अजर, अमृत है' – इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता दर्शित है। (इस कारण) वहाँ अर्थों की एकता भी मानने योग्य है। चूँकि दस भूतमात्रा और दस प्रज्ञामात्रा का ब्रह्म के सिवाय अन्य किसी में अर्पण अनुपपन्न है, इसलिए ब्रह्म के लक्षण को अन्यपरत्वेन (अन्य-अर्थ-संबंधित्व-रूप से) प्राप्त नहीं करा सकते हैं। ब्रह्म लक्षण के बल पर प्राण शब्द की ब्रह्म में प्रवृत्ति का तो अन्यत्र भी आश्रयण (स्वीकार) किया गया है। यहाँ भी हिततम के उपन्यास आदि ब्रह्मलक्षण के कारण यह ब्रह्म उपदेश ही है, यह समझा जाता है।

यह जो – 'इस शरीर को ग्रहण कर उठाता है' – मुख्य प्राण का लक्षण दिखाया था, तो वह असत् है। प्राण का व्यापार परमात्मा पर निर्भर होने के कारण, परमात्मा में उपचरित (ascribed) हो सकता है – 'न तो प्राण से, न तो अपान से कोई मर्त्य (mortal) जीता है। (वह तो) किसी अन्य के द्वारा जीता है, जिस पर ये दोनों (प्राण और अपान) आश्रित हैं' – यह श्रुति भी है।

यद्यपि 'वाक् की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए, वक्ता को जानना चाहिए' इत्यादि के द्वारा जीव लक्षण वर्णित है, फिर भी ब्रह्म पक्ष का निवारण (exclusion) नहीं है। ऐसा इसलिए क्योंकि 'अहम् ब्रह्मास्मि' 'तत् त्वम् असि' आदि श्रुतियों के द्वारा जीव की ब्रह्म से अत्यंत भिन्नता नहीं है। बुद्धि उपाधिकृत विशेष (distinction) के आश्रय से (on account of) ब्रह्म ही जीव, कर्ता, भोक्ता कहा जाता है। उसी उपाधिकृत विशेष के परित्याग के द्वारा ब्रह्म स्वरूप दिखाने के लिए – 'वाक् की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए, वक्ता को जानना चाहिए' – (इस श्रुति के द्वारा) प्रत्यगात्मा के अभिमुख करने के लिए उपदेश है, वह विरुद्ध नहीं होता है। क्योंकि 'वाक् जिससे काही जाती है पर जो वाक् से नहीं कहा जाता, उसे तुम ब्रह्म जानो न कि इसे जिसकी ये उपासना करते हैं' – आदि अन्य श्रुतियाँ भी वचन आदि क्रियाओं से रहित आत्मा का ब्रह्मत्व दर्शाती हैं।

फिर जो यह कहा था कि – 'इस शरीर में साथ रहता है और साथ ही उत्क्रमण करता है' – इस श्रुति में प्राण और प्रज्ञात्मा में भेद दर्शन के कारण ब्रह्मवादी (का कथन) उपपन्न नहीं है (क्योंकि ब्रह्मवादी के लिए तो भेद नहीं); तो यह कोई दोष नहीं। बुद्धि और प्राण, जो क्रमश: ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति के श्रय हैं, और प्रत्यगात्मा के दो उपाधि हैं, उनमें भेद का निर्देश उपपन्न (ही) है। इन दोनों उपाधियों से उपहित (युक्त) प्रत्यगात्मा में स्वरूप से अभेद है, इसलिए 'प्राण ही प्रज्ञात्मा है' यह एकीकरण भी अविरुद्ध है।

अथवा सूत्र का खंड 'नो पासा त्रैविध्यादाश्रित्वादिह तद्योगात्' का यह अन्य अर्थ है (वृत्तिकार): ब्रह्मवाक्य में जीव और मुख्य प्राण के लक्षण होने पर भी कोई विरोधाभास नहीं है।

कैसे?

त्रिविधा उपासना के कारण। यहाँ प्राणधर्म, प्रज्ञाधर्म और स्वधर्म के द्वारा ब्रह्म की त्रिविध उपासना विवक्षित है। वहाँ – 'आयु अमृत की उपासना करो, आयु प्राण है' – 'इस शरीर का ग्रहण करके उठाता है' – 'शरीर को प्राण उठाता है, जिससे इसी को उक्थ समझ कर उपासना करे' – ये सब प्राणधर्म हैं। 'अब जिस प्रकार इस प्रज्ञा के द्वारा सभी भूत एक हो जाते हैं, वह बताते हैं' – ऐसा उपक्रम कर – 'वाक् ही इसकी (प्रज्ञा की) (आधी) अंग हुई, भूतमात्रा पीछे प्रतिविहित हुई। जीव प्रज्ञा के द्वारा वाक् पर आरूढ़ होकर वाक् से सभी नामों को प्राप्त करता है' – इत्यादि प्रज्ञाधर्म हैं। 'वे पहले वर्णित दस भूतमात्रा प्रज्ञा में स्थित हैं, दस प्रज्ञामात्रा भूत में स्थित है; यदि भूतमात्रा न हो तो प्रज्ञामात्रा नहीं हो सकते और अगर प्रज्ञामात्रा न हो तो भूतमात्रा नहीं हो सकते; दोनों में से एक से कोई रूप सिद्ध नहीं हो सकता; परस्पर सापेक्ष होने से ये नाना नहीं हैं'। 'लोक में जैसे रथ के आरों में नेमी अर्पित (प्रोत) स्थित रहती है और नाभी में आरा अर्पित रहते हैं, इसी प्रकार भूत मात्रा (पाँचों भूत और उनके आश्रित पाँचों शब्द आदि विषय) प्रज्ञामात्रा (इंद्रियाँ) में अर्पित हैं और प्रज्ञामात्रा प्राण में

अर्पित है, वह ऐसा प्राण ही प्रज्ञात्मा है' – इत्यादि ब्रह्म धर्म हैं। इस प्रकार ब्रह्म की ही उपाधिद्वय धर्म के द्वारा और स्वधर्म के द्वारा एक उपासना त्रिविधा विवक्षित है। अन्यत्र भी 'मनोमय: प्राणशरीर:' इत्यादि में मन-प्राण उपाधि धर्मके द्वारा ब्रह्म की उपासना मनी गयी है; यहाँ भी अन्य धर्म के द्वारा उपासनायुक्त हो सकती है, क्योंकि वाक्य के उपक्रम और उपसंहार से एकार्थत्व का ज्ञान होता है और प्राण, प्रज्ञा तथा ब्रह्म के धर्मों का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार, यह ब्रह्म वाक्य है, यह सिद्ध हुआ।